शिक्षा-सिद्धांत एवं दर्शन

लेखकः—

सत्यदेव सिंह

एम० ए०, बी० टी०, एम० एड०

प्रिंसपल, टीचर्स ट्रेनिंग कालेज

गोरखपुर युनिवर्सिटी

गोरखपुर



विश्वविद्यालय प्रकाशन

प्रकाशक
विश्वविद्यालय प्रकाशन
नखास चौक, गोरखपुर

प्रथम संस्करण, फरवरी सन् १९५६ ई०

मूल्य ४॥)

मुद्रक
मित्र प्रेस, गांधीपार्क, गोरखपुर

प्रकाशकीय

गत कुछ वर्षों से प्रशिक्षण विद्यालयों में हिन्दी माध्यम से पढ़ने और परीक्षा देने वाले विद्यार्थियों की संख्या बढ़ती जा रही है। किन्तु हिन्दी में शिक्षा-साहित्य और विशेष कर शिक्षा सिद्धांत एवं दर्शन सम्बन्धी साहित्य का अभाव है। शिक्षा सिद्धांत अथवा शिक्षा दर्शन पर जो इनीगिनी पुस्तकें उपलब्ध हैं वे भी प्रशिक्षण विद्यालयों के पाठ्यक्रम को दृष्टि में रख कर नहीं लिखी गई है। प्रस्तुत पुस्तक 'शिक्षा-सिद्धांत एवं दर्शन' की रचना प्रशिक्षण विद्यालयों के पाठ्यक्रम की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर की गई है। उत्तरप्रदेशीय एल० टी० परीक्षा के प्रथमप्रश्न-पत्र खंड 'अ' के समस्त प्रकरणों के विस्तृत विवेचन के अतिरिक्त बी० टी०, बी० एड०, डिप० एड०, एम० एड० आदि के परीक्षार्थियों तथा अन्य शिक्षा-प्रेमियों के लिये भी इसमें पर्याप्त सामग्री सन्निहित है।

विषय-सूची

अध्याय	पृष्ठ
१. शिक्षा : अर्थ एवं व्याख्या	१—११
२. शिक्षा के उद्देश्य	१२—४०
३. शिक्षा एवं दर्शन का सम्बन्ध	४१—५२
४. शिक्षा में आदर्शवाद	५३—६८
५. शिक्षा में प्रकृतिवाद	६९—८५
६. नव शिक्षा-प्रवर्त्तक : रूसो	८६--१०६
७. नव शिक्षा-प्रवर्त्तक : पेस्तॉलॉजी	१०७--११८
८. हरबार्ट : शिक्षा-प्रयोग में प्रगति	११९--१२५
९. फ्राबेल : शिक्षा-प्रयोग में प्रगति	१२६--१३५
१०. शिक्षा में मनोवैज्ञानिक तथ्य	१३६--१४२
११. शिक्षा में वैज्ञानिक प्रवृत्ति एवं हरबर्ट स्पेन्सर	१४३--१५२

अध्याय पृष्ठ

१२.	शिक्षा में लोक संग्रही प्रवृत्ति	१५३--१५७
१३.	शिक्षा में समाहारक प्रवृत्ति	१५८--१६२
१४.	शिक्षा में प्रयोजनवाद	१६२--१७२
१५.	जॉन डीवी तथा शिक्षा	१७३--१६०
१६.	राज्य और शिक्षा	१६१--१६६
१७.	राष्ट्रीयता और शिक्षा	२००--२०५
१८.	अन्तर्राष्ट्रीयता और शिक्षा	२०६--२१४
	सहायक पुस्तकों की सूची	२१५--२१६
	कुछ प्रश्न एवं उनके उत्तर का संकेत	२१७--२२०

—:*:—

शिक्षा-सिद्धांत

एवं

दर्शन

शिक्षा : अर्थ एवं व्याख्या

शिक्षा का महत्व व्यापक, परन्तु इसकी परिभाषा अनेक और मतैक्य का अभाव; शिक्षा शब्द का अर्थ; शिक्षा, अन्दर पैठाने एवं अन्तः निहित गुणों को बाहर निकालने की क्रिया—शिक्षा—शिक्षण एवं निर्देशन में भेद; शिक्षा एक अनवरत प्रक्रिया—एकीकरण आत्म—अभिव्यक्ति, एवं आत्मानुभूति की; शिक्षा कार्य प्रत्यात्मक एवं रचनात्मक; शिक्षा के रूप—सविधिक-अविधिक, प्रत्यक्ष-परोक्ष, उदार-विशिष्ट, निश्चयात्मक, निषेधात्मक, व्यक्तिगत एवं सामूहिक।

शिक्षा का महत्व—सभ्य जगत की वे सभी वस्तुयें जो आज हमें भव्य एवं आकर्षक प्रतीत होती हैं, शिक्षा की देन हैं। यही सुसंस्कृत मानवको मानसिक, बौद्धिक, नैतिक, आध्यात्मिक एवं शारीरिक संतुष्टि प्रदान करती है। शिक्षा ही मानवता की उन्नति एवं मानव सभ्यता की प्रगतिका एकमात्र साधन है। इसका प्रादुर्भाव हम मानवकी चेतनामें पाते हैं। जबसे मानव चेतन हुआ वह एक दूसरे को शिक्षा देता आ रहा है। शिक्षा-क्रिया मानव ही तक सीमित नहीं वरन संसार के अन्य जीव-जन्तु भी इसे करते आ रहे हैं और इसी के फलस्वरूप उनका अस्तित्व आज भी है। शिक्षा जहाँ जीवों के अस्तित्वमें सहायक है, वहीं मानवको बुद्धि, चिन्तन एवं शक्ति भी प्रदान करती है।

शिक्षा का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानवका जीवन-दृष्टिकोण चाहे जो भी रहा हो उसने शारीरिक शक्ति, मानसिक विकास, बौद्धिक उन्नति, भौतिक आनन्द अथवा आध्यात्मिक पूर्णताकी प्राप्तिके लिए एक-मात्र शिक्षा का ही प्रयोग किया है। भारतीय ऋषियों ने आत्मानुभूति, चित्तवृत्ति-निरोध एवं मोक्ष के लिये आत्म-वित और मन्त्र-वित अर्थात् ज्ञान और विज्ञान* दोनों का ही प्रश्रय लिया है। इस्लाम के प्रवर्त्तक

* ज्ञान विज्ञान सहितं—श्रीमद्भगवतगीता; ९, १

हजरत मुहम्मद ने 'ज्ञान-प्राप्ति में अमरत्व की क्षमता पाई और ज्ञान को ही एकमात्र स्वर्ग का सोपान समझा'। प्राचीन स्पार्टा ने अपनी राज्य-सत्ता एवं प्रभुत्व को स्थापित करने तथा उसे स्थायी रखने के निमित्त शिक्षा का पूर्ण उपयोग किया और प्रत्येक नागरिक के लिये जन्म से युवावस्था तक क्रमबद्ध शिक्षा को अनिवार्य बनाया। प्लैटोने सामाजिक जीवन को न्याय-सूत्रमें बाँधने के लिये शिक्षा को ही सर्व श्रेष्ठ उपकरण समझी। वस्तुतः असभ्य मानव को सभ्य, गुणी तथा सुसंस्कृत बनाने के हेतु कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद जैसे धर्मप्रवर्त्तक तथा गांधी जैसे महात्मा ने शिक्षा ही को उपयुक्त साधन बनाया। निस्सन्देह मानवके लिए प्रत्येक काल में शिक्षा समान रूपसे ही उपयोगी रही है।

शिक्षा का महत्व व्यापक एवं सर्वमान्य होते हुये भी उसे कुछ निश्चित शब्दों में परिभाषित करना सरल नहीं। शिक्षाशास्त्रियों ने इसकी अनेक व्याख्याएँ की हैं किन्तु उनमें मतैक्य नहीं। विचारकों के लिए आज भी यह एक पहेली है। इसी पहेली के समाधान के लिए प्लैटो एवं अरस्तू जैसे विचारकों ने प्रयत्न किया तथा अन्य विचारक भी करते आ रहे हैं और सभी ने "जाकी रही भावना जैसी" की उक्ति के अनुसार इसकी व्याख्या की है। हम भी शिक्षा की व्याख्या ही कर सकते हैं और उसी के अन्तर्गत कुछ शिक्षाशास्त्रियों की परिभाषाओं पर विचार करेंगे।

'शिक्षा' शब्द 'शिक्ष' धातुसे बना है जिसका अर्थ है ज्ञान प्राप्त करना, 'शिक्षा' का अनुरूप शब्द 'विद्या' है जो 'विद्' धातु से बना है जिसका भी तात्पर्य है 'जानना' (ज्ञान प्राप्त करना)। शिक्षाका अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'Education' है। 'Education' लैटिन भाषाके 'Educatum' शब्दसे निकला है। 'E' का अर्थ है 'out of' अन्दर से तथा 'Duco' डुको का अर्थ है 'I lead' 'अग्रगति देना' *. अतएव Education 'एडूकेशन' का अर्थ है 'भीतर से

* Ross: Educational Theory P. 16

अनेक दोष हैं। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि प्रत्येक बालक अपने ढंग का निराला होता है। एक की दूसरे से कोई समता नहीं। सबकी रुचि, प्रवृत्ति, मानसिक एवं शारीरिक गुण एक समान नहीं। अतः सबको एक ही प्रकार की, एक ही विधि से, समान परिस्थितियों में शिक्षा देने से अधिकांश को हानि ही होती है। विभिन्न रोग के रोगियों को एक ही औषधि लाभकारी सिद्ध नहीं होती। क्योंकि युंग, स्पेन्सर आदि मनोवैज्ञानिकों का मत है कि मनुष्य अपने दिन-प्रति-दिन के व्यवहार, रुचि एवं लक्ष्य के अनुसार अनेक व्यक्तित्वात्मक श्रेणियों में विभाजित हो जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न व्यक्तित्व वाले विद्यार्थियों को एक समूह में बिठाकर शिक्षा देना वेलॉर्ड के अनुसार 'बैल और गधे को एक साथ जोतना है।' इतना ही नहीं वॅर्डसवर्थ के शब्दों में 'मानवता का ह्रास करना है।'

शिक्षा के उद्देश्य

को कैसी शिक्षा दी जाय' यह समस्या अब भी ज्यों की त्यों बनी हुई है; ऐसा क्यों ?

संसार परिवर्तनशील है। मानव की भौगोलिक, राजनैतिक एवं आर्थिक दशाओं में, उनके रहन-सहन एवं वेशभूषा में परिवर्तन दृष्टि-गोचर होता है। पाषाण-काल का नग्न मानव आज वस्त्र एवं आभूषणसे दबा जा रहा है। साइबेरिया के जङ्गलों में घूमने वाले आज शीत-ताप नियंत्रित (एयर कन्डीशन्ड) सिनेमा घरों में आनन्द ले रहे हैं। इस प्रकार मानव की भौतिक समस्याओं में परिवर्तन तो हो रहा है परन्तु उसकी शिक्षा-समस्या आज भी पूर्ववत् बनी हुई है क्योंकि वह भौतिक नहीं, मानसिक है। मानव प्रकृति मूलत: अपरिवर्तनशील है और मानव-आदर्श सनातन। कालिदास का 'मेघदूत', तुलसीकृत 'रामचरितमानस' तथा दाँते और शेक्सपीयर की रचनाओं को लोग आज भी चावसे पढ़ते हैं क्योंकि उनमें मानव स्वभाव का वर्णन ही प्रधान है।

यहूदियों के जीवन का उद्देश्य 'ईश्वर के इच्छानुसार कार्य करना था' तथा यूनानियों का 'मानव स्वभाव के उत्तम गुणोंको प्राप्त करना।' आज लगभग २००० बर्ष बाद भी हमारे उद्देश्य प्राय: वही हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि मानव का जीवन-उद्देश्य प्राय: शाश्वत् है और मानव विचार समरूप। शिक्षा जीवन-उद्देश्य से सम्बद्ध है। अत: यह भी मानव के लिए शाश्वत एवं समरूप है। यदि अरस्तू-युग में शिक्षा आदर्श के पद्धति एवं प्रयोग विवादग्रस्त रहे हैं, तो आज भी उनमें विचित्रता तथा विभिन्नता का होना अस्वाभाविक नहीं क्योंकि शिक्षा जीवन-उद्देश्य की प्राप्ति का एक अनिवार्य साधन है और जीवन-उद्देश्य जीवन-दर्शन का ही प्रतिफल है। अत: शिक्षा का जीवन-दर्शन से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। मानव के जीवन सम्बन्धी दर्शन एवं उद्देश्य अनेक हैं। इतना ही नहीं शॉपेनहीयर के शब्दों में, "प्रत्येक मानव तत्वज्ञानी है।" उसके कथनानुसार तो संसार में उतने जीवन-उद्देश्य हो

सकते हैं जितने मनुष्य। अतएव शिक्षा-उद्देश्य का एक अथवा स 'मान्य होना सम्भव नहीं। यही कारण है कि निरन्तर चिन्तन के पश्चात् भी अब तक शिक्षा-उद्देश्य-सम्बन्धी कोई सर्वमान्य मत नहीं दिया जा सका है, और न भविष्य में ही इसकी कोई आशा है।

कुछ दार्शनिकोंका मत है कि शिक्षा-कार्य उस समय तक स्थगित रखा जाय जब तक जीवन-उद्देश्य की समस्याओं का कोई समुचित समाधान न हो जाय। यदि इस मत को स्वीकार कर शिक्षा-कार्य को कुछ समय के लिये स्थगित कर दिया जाय तो परिणाम निःसन्देह भयावह होगा। मान फिर एक बार उस अवस्थाकी ओर उन्मुख होगा जहां वह आजसे सहस्रों बर्ष पूर्व था और शिक्षा विकास में एक महान् विच्छेद हो जायगा।

हरबार्ट तथा अन्य दार्शनिकों का यह विचार है कि शिक्षा-कार्य को स्थगित कर, एक सर्वमान्य शिक्षा-उद्देश्य के लिए टकटकी लगाये रहना बुद्धिमानी नहीं। शिक्षा का उद्देश्य चाहे जो भी हो, शिक्षा-कार्य का अनवरत् चलते रहना आवश्यक है। हमारे कार्य का चाहे जो भी फल हो, हमें कार्य-रत रहना ही चाहिये। *

किन्तु लक्ष्य रहित कार्य में लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक सम्भावना है। अतः शिक्षा में उद्देश्य का होना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि उद्देश्य पर ही शिक्षा-सिद्धांत, प्रयोग पाठ्यक्रम, शिक्षणविधि, विनय एवं शैक्षिक संगठन आदि अवलंबित हैं। उद्देश्य से ही अध्यापक प्रभावित होता है और उसकी शिक्षण-कला भी इसी से अनुप्राणित होती है। आदर्श ही शिक्षाक्रम का मार्ग प्रशस्त करता है और उसकी प्रत्येक स्थिति को प्रभावित करता है। अतः शिक्षा-योजना में उद्देश्यका

* कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन् ॥ गीता, अध्याय २, सं० ४७।

महत्व अत्यधिक है। ऐसा कर लेने से अध्यापक एवं बालक, शिक्षक एवं शिक्षार्थी दोनों अपने लक्ष्य के विषयमें जागरूक हो जाते हैं। फलस्वरूप वे क्रियाकाल में लक्ष्य तक पहुंचने ा ले मार्गसे विचलित नहीं होते हैं। जागरूकता के कारण उनके मन में दृढ़ता एवं आत्मबल उत्पन्न होते हैं, फलतः वे एकाग्र होकर कार्यरत हो जाते हैं। इस प्रकार पूर्वलक्षित उद्देश्य ही क्रिया को उचित दिशा में ले जाता है और लक्ष्यप्राप्ति के उपाय को भी सरल बनाता है। अध्यापक इससे प्रभावित होकर शिक्षण-पद्धति, साधन एवं विषयों का समुचित प्रयोग करता है। अतएव शिक्षण प्रारम्भ करनेके पूर्व उसके उद्देश्य को निर्धारित करना अत्यंत आवश्यक ही नहीं, वरन् लाभप्रद भी है।

शिक्षा-उद्देश्य निर्धारण सरल नहीं। इसका सम्बन्ध जीवनसे है। मानव जीवन का उद्देश्य निर्धारित करना अध्यापक का कार्य नहीं। तत्वज्ञानी अथवा जीवशास्त्री को ही इसपर विशेष अधिकार प्राप्त है। मानव जीवन के दो अंग हैं—आध्यात्मिक एवं भौतिक अथवा मानसिक एवं शारीरिक। दार्शनिक अथवा तत्वज्ञानी, आध्यात्मिक-जीवन के विशेषज्ञ हैं। शारीरिक जीवन-अस्तित्व की मीमांसा के अधिकारी जीव-शास्त्री हैं तथा समाज-सुधारक राजनीतिक या शासक भौतिक-जीवन -सम्बन्धी परिवर्तन में विशेष महत्व रखते हैं। शिक्षा-इतिहास बताता है कि उपरोक्त कोटि के व्यक्ति ही बहुत दिनों तक शिक्षा-उद्देश्य का निर्धारण करते आये हैं। किन्तु ये बालक की प्रकृति से अनभिज्ञ थे। शिक्षा-प्रक्रिया में बालक एक मुख्य घटक है अतः उसकी अवहेलना कर शिक्षा-उद्देश्य पर मत देना अवांछनीय प्रतीत होता है। अध्यापक बालकके निकट अवश्य है और उसकी प्रतिदिन की क्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं को भली भांति समझता भी है। किन्तु न तो वह तत्वज्ञानी है और न समाज-सुधारक या राजनीतिज्ञ ही। अतएव शिक्षा-उद्देश्य-निर्धारण-कार्य केवल उसी पर छोड़ देना युक्ति संगत नहीं। इस कार्य के लिये ऐसे विशेषज्ञ ही उपयुक्त

हो सकते हैं जिनको मानव के धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक विकास का ज्ञान प्राप्त हो, जो वर्तमान राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं से भिज्ञ और साथ ही जिनको जीव-विकास की पृष्ठभूमि में मनोविज्ञान तथा उस पर अवलम्बित शिक्षा-सिद्धान्त का भी निश्चित् ज्ञान हो।

शिक्षाके इतिहास से स्पष्ट है कि अठारहवीं शताब्दी तक शिक्षा-उद्देश्य-निर्धारण-कार्य प्राय: उन्हीं लोगों ने किया जिनको न तो मनोविज्ञान अथवा उससे निगर्मित शिक्षा-सिद्धांत का ज्ञान था और न बालहित भावनाओं से ही अनुप्राणित थे। प्राचीन भारतीय शिक्षा-आदर्श का मूल धर्म था। ऋषियों ने इस भौतिक जगत को मिथ्या एवं जीवन को क्षणभंगुर माना। इससे छुटकारा पाना और जीवात्मा का परमात्मा में समाहित होने को ही जीवन-उद्देश्य समझा। अत: शिक्षा का उद्देश्य आत्मबोध, सत्यानुभूति, चित्तवृत्ति-निरोध अथवा ऋषित्व एवं मोक्ष प्राप्त करने में ही सीमित रहा। यज्ञ, जप, तप, मनन योग एवं निदिध्यासन आदि पर अधिक जोर दिया गया। बौद्धिक-विकास, समाज-सुधार एवं चरित्र-निर्माण को आवश्यक समझा गया। शिक्षा का प्रयोग विशेषत: आत्मज्ञान प्राप्ति के हेतु ही किया गया। वस्तुगत ज्ञान को ऋषियों ने तुच्छ एवं हेय माना क्योंकि यह ज्ञान इन्द्रियजन्य है, और फलत: वासना-लिप्सा एवं अहम् भाव को प्रोत्साहित करता है।

बौद्ध कालीन शिक्षा-आदर्श का मूल, धर्म. एवं नैतिकता में है। इसका मुख्य उद्देश्य मनुष्य को चरित्रवान एवं नैतिक बनाना, उनमें धार्मिक एवं सामूहिक एकताकी भावना उत्पन्न करना तथा उनको निर्वाण प्राप्त कराना था। वैदिक-ब्राह्मण की भांति बौद्ध-भिक्षुकों ने इस भौतिक जीवन को असत् एवं वासनामय, तथा संसार को भ्रम माना। आत्मा को आवागमन से मुक्त करने के लिये, वैराग्य, विनय, जप, तप, आत्मसंयम एवं निरोध को अपने जीवन की नित्य क्रिया बनाया।

मुसलिम शिक्षा भी धर्म एवं नैतिकता से प्रभावित थी। मसजिदों में स्थापित मकतबों में कुरान, हदीस, गुलिस्ताँ, बोस्तां को हिफ्ज़ (कंठस्थ) करना एवं हाफिज़ के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर तरबियत (विनय) सीखना तथा इल्म* और इरफान † प्राप्त करना, उनकी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य था। इल्म केवल साधन था; इरफान प्राप्ति, लक्ष्य; मुअर्रिफ × को ही ईश्वर मिलते थे। अतः मुस्लिम शिक्षा का ध्येय ऐसे नैतिक व्यक्तियों का निर्माण करना था जो इस्लामी नियमों एवं परम्पराओं का पालन करते हुए जीविकोपार्जन हेतु हाफिज़, काज़ी, धर्मोपदेशक एवं सफल राजकीय पदाधिकारी हो सकें।

वैदिक, बौद्ध अथवा मुस्लिम शिक्षा-दर्शन एवं व्यवहार में धर्म तथा नियम की प्रधानता थी। वैदिक-ब्राह्मण, बौद्ध-भिक्षु एवं आरिफ ने इस भौतिक जीवन को असत्, जगत को क्षणभंगुर माना। इससे मुक्ति, मोक्ष पाने अथवा ईश्वर से साक्षात्कार करने के हेतु शिक्षा का प्रयोग किया। अतः भारतीय शिक्षा अधिक दिनों तक एकांगी रही और शिक्षा-उद्देश्य बालहित-भावनाशून्य, अमनोवैज्ञानिक एवं अवैज्ञानिक था।

प्राचीन स्पार्टा ने आंतरिक विद्रोह एवं बाह्य आक्रमण से राज्य को सुरक्षित रखने के लिए शिक्षा का अधिकाधिक प्रयोग राज्य के प्रत्येक व्यक्ति में **शौर्य, पराक्रम, साहस एवं शारीरिक बल** उत्पन्न करने के लिए किया। खेल-कूद, कसरत एवं शरीर-रक्षा-संबन्धी कठोर नियमों द्वारा शरीर को बलिष्ट बनाने के लिए बालकों को बाध्य किया। इनकी शिक्षा का उद्देश्य शारीरिक विकास था। प्लेटो ने भी बालकों के शरीर को स्वस्थ एवं बलवान बनाने के हेतु जिमनास्टिक आदि खेलों को

* इल्म = पराविद्या, ज्ञान। † इरफ़ान = अपरा विद्या, आत्मज्ञान
× मुअर्रिफ़ = आत्मज्ञानी

उपयोगी समझा। प्राचीन भारतीय ऋषियों ने शरीर रक्षा के हेतु ब्रह्मचर्य, सात्विक जीवन, संयम एवं नियम पर अधिक बल दिया। कहने का अभिप्राय यह है कि अनेक शिक्षा-शास्त्रियों ने शारीरिक विकास को शिक्षा का महत्वपूर्ण उद्देश्य माना है। उनका कथन है कि शरीर को स्वस्थ, निरोग एवं शक्तिशाली बनाये रखना मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकता है। स्वस्थ-शरीर, व्यक्ति को स्फूर्ति एवं क्रियाशक्ति प्रदान करता है। शारीरिक-शक्ति पर जीविका-निर्वाह निर्भर है। प्लेटो ने कहा है कि 'शरीर की रक्षा आत्मा के लिए आवश्यक है।' इतना ही नहीं "एक स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क विद्यमान होता है।"* सज्जनता एवं साधुता के लिए भी स्वस्थ शरीर आवश्यक है; क्यों कि "दुर्बलता ही दुष्टता को जन्म देती है।" † व्यक्ति के शक्तिवर्धन से केवल व्यक्ति का ही हित नहीं अपितु उसकी शक्ति तथा बल से राष्ट्र शक्तिशाली होता है।

शारीरिक शक्ति एवं व्यायाम पर आवश्यकता से अधिक बल देना उचित नहीं, क्योंकि उस पर अधिक बल देने से व्यक्ति एक जंगली पशु के समान हो जाता है जिसमें हिंसा की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। वह अज्ञानता से ओत-प्रोत होकर, शील, सुसंस्कृति एवं मर्यादा से पूर्णतः वंचित रह जाता है। शरीर को जीवित रखने एवं शारीरिक बलवृद्धि के लिए भोजन एवं धन की आवश्यकता है। यदि शिक्षा मनुष्य को जीविकोपार्जन के योग्य न बनाये तो वह स्वयं तथा अपनी संतान को जीवित एवं स्वस्थ रखने में असमर्थ रहेगा। मानव एक आचरणशील प्राणी है। विवेक, कर्त्तव्यपरायणता, निष्ठा एवं साधुता आदि उसके गुण हैं। अतएव शारीरिक विकास

* Sound mind in a sound body.—Locke

† "All wickedness comes from weakness."—Rousseau

के साथ मानसिक, नैतिक एवं धार्मिक उन्नयन में संतुलन एवं सामंजस्य का होना आवश्यक है। इस दृष्टि से शारीरिक-विकास को शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य मानना उचित नहीं। शारीरिक विकास केवल साधन है, साध्य नहीं। क्योंकि शरीर आत्मा के लिये है, आत्मा शरीर के लिये नहीं।

एथिनियन शिक्षा-योजना में राज्य एवं व्यक्ति के हित में हम सामंजस्य पाते हैं। राज्य, व्यक्ति के लिये और व्यक्ति, राज्य के लिये ही था। अतएव एथिनियन शिक्षा का उद्देश्य सुयोग्य नागरिक एवं वीर सैनिक बनाना तथा बालकों में सत्यता, सहिष्णुता, नैतिकता आदि भावनाओं को प्रबल बनाना था। सुकरात ने शिक्षा को मानव विकास का साधन माना। उसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को सत्य का ज्ञान कराकर उसके व्यवहार में न्याय, धर्म, संयम, कृतज्ञता, मैत्री आदि गुणों का समावेश करना था।

प्लेटो ने ज्ञान को सर्वोच्च गुण प्राप्त करने का एकमात्र साधन समझा और **शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करना** बतलाया। ज्ञान प्राप्ति से उसका अभिप्राय ज्ञान की वृद्धि नहीं वरन् उसके ही शब्दों में "आत्मा का वह विकास जिससे मनुष्य लौकिक जगत् के अध्ययन से विमुख होकर जीवन के यथार्थ अस्तित्व का मनोयोग द्वारा अध्ययन करे" ज्ञान कहलाता है। * उसने ज्ञान के तीन स्रोत बतलाये हैं, और तद्नुसार उसकी श्रेणी—(१) इन्द्रिय—इसके द्वारा प्राप्त ज्ञान। (२) वस्तु—इससे संबंधित ज्ञान या सम्मति और (३) विवेक या मन से स्वतः उत्पन्न ज्ञान-विचार। विचार और सम्मति एक नहीं। विचार स्थायी और शाश्वत है, सम्मति अस्थायी और परिवर्तनशील। विचार

* "Conversion of a soul from the study of the sensible world to contemplation of real existence." Plato's Republic Page 521.

अंतरंग है, और सम्मति बहिरंग। विचार आत्मप्रेरित है और सम्मति इन्द्रिय जन्य। विचार आत्म-ज्ञान का उद्गम है और सम्मति बाह्यज्ञान का सोपान। भारतीय ऋषियों ने ज्ञान के दो भेद बतलाये हैं— आत्मवित और मंत्रवित। मंत्रवित ज्ञान पुस्तकों द्वारा प्राप्त किया जाता है और यह आत्मवित ज्ञान प्राप्ति का केवल एक साधन है। यदि यह इच्छित-ध्येय-प्राप्ति में सहायक नहीं, तो व्यर्थ है। ऐसी दशा में यह केवल सांसारिक शक्ति प्रदान कर सकता है जिससे मनुष्य को क्षणिक सुख मिलता है। किन्तु आत्म-ज्ञान से आनन्द एवं परमानन्द की प्राप्ति होती है।

प्लेटो ने ज्ञान-प्राप्ति पर ही जोर दिया, जिससे मनुष्य भक्ति और शक्ति दोनों प्राप्त कर सकता है। शक्ति का स्वरूप सांसारिक है और भक्ति का आध्यात्मिक। सांसारिक शक्ति का उचित प्रयोग न होने पर नर-संहार और विनाश होता है। भक्ति से सर्वदा कल्याण होता है, शक्ति से कल्याण एवं हानि दोनों। शक्ति के द्वारा मनुष्य भौतिक जगत पर नियंत्रण और अपने जीवनोपयोगी साधनों में अभिवृद्धि एवं सुधार करता है। किन्तु शक्ति के दुरुपयोग के फलस्वरूप संसार में विध्वंसकारी युद्ध हुए हैं; और आज मानवता अणुबम और ज़हरीले गैसों के भय से त्रसित है। यदि ज्ञान का उपयोग केवल भौतिक हित के लिये किया जाय तो मनुष्य इस संसार में सुखी रहता है किन्तु परमानन्द से वंचित। इतना ही नहीं उसके भौतिक हितों की स्वार्थ-परायणता दूसरों के लिए अहितकर होती है। मनुष्य स्वभावतः तत्कालिक एवं प्रत्यक्ष लाभ की ओर आकृष्ट एवं परोक्ष की अपेक्षा अधिक प्रवृत्त रहता है। वह वर्तमान को भविष्य से अधिक महत्वपूर्ण समझता है। अतः अपने निश्चित वर्तमान को अनिश्चित भविष्य के लिए 'गिरों' करने को तैयार नहीं। यदि हम शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञानार्जन ही मानें तो मनुष्य सम्भवतः उसी ज्ञान की ओर प्रवृत्त होगा जिससे उसका वर्तमान

होगी और यह सर्वथा अमनोवैज्ञानिक है। इसके अतिरिक्त सभी को एक ढ़ाँचे में ढ़ालना सम्पूर्ण मानवता के विकास एवं प्रगति को अवरुद्ध करना है।

शिक्षा का सांस्कृतिक उद्देश्य एकांगी है। इस वैज्ञानिक युग में सुसंस्कृत मानव का पारिवारिक जीवन प्रायः सुखी नहीं। दाल-रोटी की समस्या को हल करने में वह असमर्थ है। अतः शिक्षा का सांस्कृतिक उद्देश्य सर्वमान्य तथा सर्वोत्तम नहीं प्रतीत होता।

कुछ शिक्षा-शास्त्रियों के मतानुसार **शिक्षाका मुख्य उद्देश्य चरित्र एवं शील का निर्माण करना** है। मनुष्य निःसंदेह एक आचरणशील प्राणी है। चरित्र; धन, शारीरिक शक्ति, ज्ञान एवं संस्कृति से महत्वपूर्ण है। महान् शिक्षा-शास्त्री हरबॉर्ट ने जगत में नैतिकता को मानवता का सर्वोत्तम आदर्श बताया है और कहा है कि "शिक्षा की सभी समस्याओं का समाधान 'नैतिकता' शब्द के अन्तर्गत सीमित है। इसी शब्द से शिक्षा के सभी उद्देश्य व्यक्त होते हैं।"* उसके मतानुयायी ज़ीलर ने कहा है, "शिक्षा का उद्देश्य स्वर्ग को पृथ्वी पर उतारना है।"† वह शिक्षा निरर्थक है जिसमें चरित्र-निर्माण की शक्ति न हो।

हरबॉर्ट ने उपर्युक्त उद्देश्य को केवल परिभाषित ही नहीं किया वरन् मनोवैज्ञानिक विधि से उसे प्राप्त करने का क्रमिक साधन भी बतलाया है। वह मानसिक-शक्ति-सिद्धान्त × का विरोधी है। उसका कथन है कि 'मनुष्य की आत्मा को सब प्रकार की मानसिक शक्तियों की एक गठरी समझना बहुत बड़ी भूल है। हम उसकी साधारण प्रकृति को

* R. R. Rusk : The Doctrines of the Great Educators. Page 206.

† William Boyd. : The History of Western Education. Page 385.

× Doctrine of Faculty.

नहीं जानते। इसका ज्ञान हमें उस समय होता है जब यह अपने को विचारों द्वारा प्रकट करता है और तब हम इसे मस्तिष्क कहते हैं, और जब यह भाव एवं इच्छाओं में प्रकट होता है तो स्वभाव कहलाता है।' अतएव चरित्र का निर्माण विचारों पर आधारित है जिसे बालक निर्देशन द्वारा प्राप्त करता है। जब विचार चेतनावस्था में बार-बार आते हैं तो उनमें घना सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और ये शनैः शनैः एक विचार-समूह* में परिणत हो जाते हैं जो तदनुरूप अन्य विचारों को अपने में समाहित करता है। इस प्रकार विचारों का एक वृत्त † बन जाता है जो रुचि + का जन्मदाता है। रुचि क्रमशः उन्नति करके प्रबल इच्छाओं × में परिवर्तित हो जाती है और प्रबल इच्छा ही कार्य की प्रेरक है। अतः मनुष्य के विचारों पर ही उसका आचरण निर्भर है। विचार, निर्देशन से उत्पन्न होते हैं अतएव शिक्षा का कार्य बालक में परिष्कृत एवं सुन्दर विचार उत्पन्न करना एवं उसको परिवर्धित कर उसमें उत्तम सामाजिक एवं नैतिक गुण उत्पन्न करना है।

बिचारों को सुन्दर एवं विस्तृत बनाने के लिये बालक को विभिन्न विषयों का ज्ञान कराना आवश्यक है। पाठ्यक्रम में उन विषयों को प्राथमिकता देनी चाहिये जो नैतिक एवं धार्मिक विचारों से भरे हों। इसलिए हरबार्ट ने इतिहास और साहित्य पर विशेष बल दिया है क्योंकि इनके द्वारा नैतिक शिक्षा मिलती है।

हरबार्ट के कथनानुसार ज्ञान ही, सद्गुण एवं नैतिकता का स्रोत है। ज्ञान के अभाव में उसका प्रादुर्भाव असम्भव है। अज्ञानी मानव सद्गुणी [redacted], अनैतिक हो सकते हैं और अज्ञानी, नैतिक। 'सदाचार' ज्ञान अथवा अज्ञान पर ही

* Apperceptive Mass. † Circle of Thought.
+ Interest. × Desire.

निर्भर नहीं यह तो मानव स्वभाव से संबन्धित है और मानव स्वभाव उसकी प्रवृत्तियों पर निर्भर है। विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार तो वंशानुगत तथा वातावरण के संस्कारों का बालक के मानस पर प्रबल प्रभाव पड़ता है और इसके लिये शिक्षा, अधिक लाभप्रद नहीं।

यह निश्चय करना कि सदाचार क्या है, कठिन है। जो मनुष्य एक की दृष्टि में सदाचारी है वही दूसरे की दृष्टि में दुराचारी। अतः चरित्र के अन्तर्गत किन-किन गुणों का समावेश हो इस पर विभिन्न मत हैं, जो प्रायः दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं। अतः 'चरित्र-निर्माण-उद्देश्य' दार्शनिक विवाद का एक विषय बन जाता है, जिसका निरूपण करना शिक्षाशास्त्री के लिए कठिन ही नहीं वरन् अवांछनीय है।

केवल सदाचार एवं चरित्रबल, मनुष्य को जीवन में सफल बनाने के लिए पर्याप्त नहीं। व्यवहारिकता, कर्त्तव्य-परायणता, साहस, धैर्य, जीविकोपार्जन एवं परिस्थितियों के अनुकूल अपने को परिवर्तित करने की क्षमता आदि गुणों के बिना सदाचारी सफल जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। अतः चरित्रनिर्माण उद्देश्य भी एकांगी प्रतीत होता है।

शरीर-विकास, ज्ञानार्जन, सांस्कृतिक-उन्नयन, चरित्र-निर्माण तथा नैतिकता सभी का आधार भौतिक जीवन है जो पूर्णतः मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं पर निर्भर है अतएव वह शिक्षा जो मनुष्य को जीविकोपार्जन के योग्य न बनावे अनुपयोगी है। अतः कुछ शिक्षा-विचारकों के अनुसार **शिक्षा का उद्देश्य जीवकोपार्जन है**। उनका कथन है कि शिक्षा, साध्य नहीं एक साधन है। इसका कार्य बालक को सफल जीवन व्यतीत करने योग्य बनाना है। यदि मनुष्य अपने आर्थिक दृष्टि से पंगु है तो वह ज्ञानी, सदाचारी, कर्मठ होते हुए भी आधुनिक समाज में भार-स्वरूप है। अतएव शिक्षा में व्यवसायिक

दृष्टिकोण का होना अनिवार्य प्रतीत होता है।

शिक्षा में व्यवसायिक तत्वों के बाहुल्य से देश में बेकारी, भुखमरी एवं आवश्यक वस्तुओं की कमी न रहेगी। कलाकौशल, व्यवसाय आदि की वृद्धि होगी और प्रत्येक युवक युवती कार्यव्यस्त रहेंगे। राष्ट्र समृद्धिशाली ही न होगा वरन् शक्तिशाली भी बन सकेगा। आज अमरीकी शिक्षा में व्यवसायिक-दृष्टिकोण होने के कारण ही अमेरिका धनवान एवं बलवान बना है।

भौतिक-समृद्धि व्यक्ति तथा समाज को अन्याय, पाप एवं दुष्कर्मों से बचाती है। धन-हीनता मानव को अनैतिक बनाती है। जप-तप, पूजा-पाठ के लिये भी धन आवश्यक है। किसी ने ठीक ही कहा है कि "भूखे भजन न होय गोपाला।" अतः शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक उन्नयन के लिये धनोपार्जन वांछनीय है।

किन्तु शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य धनोपार्जन मान लेना उचित नहीं। मनुष्य पशु नहीं वह कुछ और भी है। न्याय, शील, सत्कर्म, साधुता, सदाचार, आध्यात्मिक उन्नयन एवं कर्त्तव्य-परायणता उसके विशेष गुण हैं। उनको प्राप्त करने के लिये जीविकोपार्जन के अतिरिक्त उसे अन्य कार्यों में रत रहना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के ही लिए यदि शिक्षा का पूर्णतः प्रयोग किया जाय तो निसन्देह बालक में संग्रह करने वाली प्रवृति प्रबल होगी और अंततोगत्वा यह प्रतिद्वन्द्विता स्पर्धा एवं द्वेष की भावनाओं को जागृत करेगी। मानव के व्यवसायिक दृष्टिकोण ने पूँजीवाद को जन्म दिया है जो समस्त मानव को दो वर्गों में विभाजित कर, आज वर्ग-संघर्ष एवं विश्वव्यापी युद्धों को प्रोत्साहन दे रहा है।

अतः शिक्षा में जीविकोपार्जन को एक मात्र उद्देश्य तुच्छ, सीमित, एकांगी तथा विनाशकारी है। मनुष्य को जीविकोपार्जन के अतिरिक्त सामाजिक, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक आदि सभी

दिशाओं में क्रियाशील होना है। अतः शिक्षा का कार्य बालक को उपर्युक्त दृष्टिकोण से तैयार करना है।

मनुष्य को मनुष्य कहलाने के लिए सभी दिशाओं में क्रियाशील रहना आवश्यक है। किन्तु, यदि उसका जीवन पूर्ण नहीं है तो वह ऐसा करने में समर्थ न होगा। अतः प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री हरबर्ट स्पेन्सर ने **शिक्षा का उद्देश्य जीवन को पूर्णता प्रदान करना** बतलाया है। उसके अनुसार मानव जीवन ही मानव चिन्तन का मुख्य विषय है। 'हम कैसे जीवित रहें अथवा हमें कैसे रहना चाहिए' मनुष्य की प्रमुख समस्या है। शिक्षा, जीवन के लिए है; जीवन, शिक्षा के लिए नहीं। अतः शिक्षा का उद्देश्य मानव को पूर्ण जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाना है।

स्पेन्सर ने जीवन-क्रियाओं को पांच वर्गों में विभाजित किया है और प्रत्येक क्रिया के अनुरूप पाठ्यविषय भी निश्चित किया है जो इस प्रकार है:—

क्रिया	विषय
१—वे क्रियाएं जो मनुष्य के जीवन की रक्षा करती हैं।	शरीर-विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान भौतिक-विज्ञान एवं रसायन-शास्त्र।
२—वे क्रियाएं जो जीवन-रक्षा के हेतु आवश्यक पदार्थों को संचित करती हैं।	कृषि-शास्त्र, भूगर्भ-विद्या एवं यन्त्र-विद्या।
३—वे क्रियाएं जो संतान के पालन-पोषण और शिक्षण हेतु की जाती हैं।	मनोविज्ञान, गृह-विज्ञान, बौद्धिक तथा नैतिक विकास सम्बन्धी ज्ञान।
४—वे क्रियायें जो सामाजिक एवं	इतिहास, अर्थशास्त्र, समाज-

राजनैतिक कार्य-क्रमों का संचालन करती हैं।	शास्त्र आदि।
५—वे क्रियाएं जो अवकाश-काल में रुचि तथा भावना की सन्तुष्टि के हेतु की जाती हैं।	साहित्य तथा कला, संगीत, चित्र एवं मूर्ति-निर्माण-विद्या।

मनुष्य को पूर्ण एवं सफल जीवन व्यतीत करने के लिए ये क्रियायें अति आवश्यक हैं। शिक्षा का कार्य, मानव को इन क्रियाओं के करने में सहायता देना है।

हरबर्ट स्पेन्सर स्वरक्षा-सिद्धान्त का पोषक है। अतः स्वरक्षा-सम्बन्धी विषय उसके लिए महत्व-पूर्ण हैं। शरीर तथा स्वास्थ्य-विज्ञान भौतिक एवं रसायन-शास्त्रों का समुचित अध्ययन जीवन रक्षा के लिए आवश्यक है। कृषि-शास्त्र, भूगर्भ-पदार्थ तथा यन्त्र-विद्या द्वारा ही जीविका-निर्वाह के साधन उपलब्ध होते हैं। मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान और गृह-विज्ञान, शरीर-रक्षा, संतान-पालन के लिए उपयोगी हैं। इतिहास, अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र के अध्ययन से व्यक्ति राजनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में कुशल होता है तथा साहित्य और संगीत-कला व्यक्ति की रुचि तथा भावनाओं को सन्तुष्ट करती हैं। इन विषयों के क्रमिक अध्ययन से मनुष्य का जीवन उपयोगी एवं सफल ही न होगा वरन् पूर्ण बनेगा।

यह उद्देश्य साधारणतः सुन्दर प्रतीत होता है क्योंकि इसमें जीवन के प्रायः प्रत्येक अंग पर बल दिया गया है किंतु इसका पूर्ण-विवेचन करने पर हमें इसमें अनेक त्रुटियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। मानव के जीवन-दृष्टिकोण समान नहीं। "मुंडे मुंडे रूचिर्हिभिन्नः।" अतः जो एक के लिए पूर्ण जीवन है वही दूसरों के लिए अपूर्ण। यदि एक का जीवन-सिद्धांत स्वरक्षा है तो दूसरे का आत्म-बलिदान।

आत्म-रक्षा के लिए स्पेन्सर शरीर—विज्ञान के अध्ययन को अनिवार्य समझता है और बालकों को शरीर और स्वास्थ्य-सम्बन्धी शिक्षा देने को कहता है। किंतु अनुभव यह बताता है कि डाक्टर जो शरीर तथा स्वास्थ्य-विज्ञान का विशेषज्ञ है, अपने अथवा अपने कुटुम्ब को सर्वदा स्वस्थ नहीं रख सकता। देखा गया है कि वह अपने प्राणों की रक्षा करने में भी असमर्थ रहा है।

स्पेन्सर ने अपनी शिक्षा योजना में पालन-पोषण-शिक्षण को भी सम्मिलित किया है और तत्सम्बन्धी विषयों को बालकों को पढ़ाना उपयोगी माना है किंतु बालक निस्संदेह पालन-पोषण सम्बन्धी शिक्षा में रुचि न ले सकेंगे और ऐसी शिक्षा उनके लिए व्यर्थ सिद्ध होगी। अच्छा तो यह होगा कि माता-पिता बच्चों का पालन-पोषण आदर्श-नियमों के अनुसार करें ताकि वे भावीजीवन में माता-पिता बन कर पुन: इन्हीं नियमों का अनुसरण कर सकें।

स्पेन्सर ने अपनी शिक्षा योजना में विज्ञान को प्रमुख और कला तथा साहित्य को गौण स्थान दिया है। उसका कथन है कि 'विज्ञान की शिक्षा से मनुष्य की विचारशक्ति की वृद्धि होती है, व्यक्ति, नास्तिक न होकर आस्तिक और अधार्मिक न होकर, धार्मिक बनता है। इतना ही नहीं विज्ञान ही नैतिक विकास का स्रोत है।' विज्ञान निस्संदेह मनुष्य को अपने व्यवसाय में चतुर, अध्यवसायी, आत्म-निर्भर तथा सुखी बनाता है किंतु ज्ञान के अभाव में वास्तविक-आनन्द दुर्लभ है। ज्ञान ही साधुता, सच्चरित्रता, नैतिकता तथा आध्यात्मिकता का एक मात्र साधन है। साहित्य, संगीत और कला मनुष्य को सौन्दर्यानुभूति कराती हैं। उसे सभ्य और सुसंस्कृत बनाती हैं। ज्ञान (आत्म-ज्ञान), साहित्य, संगीत और कला को उपेक्षित करना मानव प्रकृतिकी अवहेलना है। इनके अभाव में व्यक्ति मानवीय गुणों से निस्सन्देह वंचित हो जायगा, क्योंकि उसने अपनी शिक्षा योजना में धार्मिक-

शिक्षा को कोई स्थान नहीं दिया है जिसके अभाव में मानव साधु सच्चरित्र तथा नैतिक नहीं बन सकेगा। अतः शिक्षा का यह उद्देश्य जीवन को पूर्ण नहीं बना सकेगा।

कुछ विद्वानों के अनुसार **शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास** है। प्रत्येक मानव में कुछ जन्मजात प्रवृत्तियाँ होती हैं। इन प्रवृत्तियों को सुरक्षित रखना एवं उन्हें विकसित करना शिक्षा का प्रमुख: कार्य है। उनके विकास में सन्तुलन का होना भी आवश्यक है क्यों कि सन्तुलित—व्यक्तित्व ही प्रभावशाली होता है।

व्यक्तित्व * है क्या? निजत्व † एवं व्यक्तित्व का प्रयोग प्रायः एक ही अर्थ में होता आरहा है किन्तु दोनों में अन्तर है। विद्वानों ने इन दोनो में भेद किया है। दैविक एवं जीवात्मक होते हुए भी निजत्व एक स्वावलम्बी इकाई है; किन्तु व्यक्तित्व, निजत्व से व्यापक है। निजत्व का विकास व्यक्तित्व के लिए आवश्यक है। ऐडम्स के अनुसार "व्यक्तित्व शब्द का बोध सदैव उस प्रक्रिया एवं विधि से है जिसके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों को प्रभावित करता है। एक दृढ़ व्यक्तित्व का मनुष्य वह है, जो अपने साथियों को विशेष रूप से प्रभावित करता है।" × कहने का अभिप्राय यह है कि व्यक्तित्व

---

* Personality.　† Individuality.

× "The term personality nearly always implies a reference to the way in which the individual concerned reacts upon other individuals. A man of strong personality is one who has a marked influence upon his fellows." Modern Developments in Educational Practice- ,Page-114.

सर्वदा समाज-सम्बद्ध है। इसका गुण प्रभावशालिता है। यदि किसी व्यक्ति से दूसरा व्यक्ति प्रभावित नहीं होता तो वह व्यक्ति निस्सन्देह व्यक्तित्वहीन है। उसमें व्यक्तित्व नहीं केवल निजत्व है।

व्यक्तित्व में सन्तुलन का होना आवश्यक है। अतएव मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियों का विकास भी सन्तुलित होना चाहिए। सन्तुलन बिगड़ जाने पर मनुष्य का व्यक्तित्व प्रभावशाली नहीं होता। अतः शिक्षा, ऐसी होनी चाहिए जिससे समस्त प्रवृत्तियाँ समरुप विकसित हो सकें।

शिक्षा का यह उद्देश्य देखने में तो सुन्दर है किन्तु इसे प्रयोग में लाते समय अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। व्यक्तित्व के विभिन्न तत्वों में सन्तुलन बनाए रखना सरल नहीं क्योंकि तत्वों का अनुपात निश्चित नहीं। एक प्रवृत्ति दूसरे के किस अनुपात में विकसित की जायेगी इसका अब तक एक सर्वमान्य उत्तर नहीं दिया गया। इसके साथ ही सभी व्यक्तियों में प्रवृत्तियों के विकास का एक ही अनुपात रखना अमनोवैज्ञानिक है। सबकी रुचियाँ एवं नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ न तो एक हैं, न समान। प्रत्येक मनुष्य इस दृष्टिकोण से एक अनोखा मानव है। यदि मानव-स्वभाव के विरुद्ध उसकी प्रवृत्तियों पर सम-बल दिया जाय और सभी को एक स्तर पर मानकर उनमें एकरूपता लाई जाय तो यह प्राकृतिक नियमों की अवहेलना ही नहीं वरन् मानव विकास को अवरुद्ध करना है।

कुछ शिक्षाशास्त्रियों ने **शिक्षा का उद्देश्य निजत्व का पूर्ण विकास** बतलाया है, इनमें टी० पी० नॅन का नाम उल्लेखनीय है। उसके अनुसार प्रत्येक बालक में कुछ विशेष गुण होते हैं जो जन्मजात् हैं। शिक्षा का कार्य इन नैसर्गिक गुणों को विकसित करना तथा बालक में उनको प्रयोग में लाने की क्षमता प्रदान करना है। शिक्षा का एक सर्वमान्य उद्देश्य निरूपित करना अथवा उसकी कल्पना

करना सर्वथा निरर्थक है। प्रत्येक बालक अपने ढंग का एक निराला व्यक्ति है। स्वभाव, रुचि, क्षमता तथा जन्मजात गुणों को दृष्टि में रखते हुए हम दो व्यक्तियों को भी समान नहीं पाते। ऐसी दशा में सबको एक ही उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु शिक्षा देना अनुपयुक्त है। अतएव टी. प. नॅन का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न-भिन्न आदर्श-शिक्षा-उद्देश्य का होना ही उचित है।

प्रत्येक व्यक्ति के मौलिक गुणों का विकास समाज के हित के लिये वांछनीय है। क्योकि मानव समाज में जो कुछ हम सुन्दर, सौम्य एवं शुभ्र पाते हैं वह व्यक्ति ही की देन है। व्यक्ति ही गुणधारक है और उसका उपदायक भी है। उसी के उपदान के फलस्वरूप व्यक्ति, समूह अथवा समाज में अनेक गुण परिलक्षित हैं। किन्तु व्यक्ति समाज के अभाव में न तो उन्हें धारण ही कर सकता है और न उन्हें समाज को भेंट ही कर सकता है। समाज-शून्य-अवस्था में वह निस्सन्देह गुणहीन हो जायगा। कहने का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति समाज का ऋणी है। ऋण चुकाना उसका कर्त्तव्य है। अतएव ऐसा करने के लिये उसे अवसर मिलना चाहिये। यह अवसर उसके जन्मजात गुणों एवं योग्यता की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रा ही में है। अतएव टी. पी. नॅन ने निजत्व के विकास पर अधिक बल दिया है। इस उद्देश्य-सम्बन्धी-विचार की पुष्टि में नॅन ने प्राणी-शास्त्र के सिद्धान्तों का योग लिया है। उनका कथन है कि प्राणी-संसार का प्रत्येक जीव अपने रूप एवं कार्य की पूर्णता के लिए सर्वदा प्रयत्नशील है। उसकी यह क्रिया प्राकृतिक है। अतएव व्यक्ति का अपने निजत्व को विकसित कर पूर्ण बनाना भी स्वाविभाक है। इसलिये शिक्षा का यह उद्देश्य भी प्रकृति के सिद्धान्तों के अनुसार ही है।

निजत्व से नॅन का अभिप्राय वह पार्थिव अंग नहीं जिसका अस्तित्व स्वतन्त्र हो, और जो केवल अपने ही लिए जीवित हो। वरन् यह

एक लक्षित आदर्श है जिसकी सरलता से प्राप्ति किसी भी अवस्था में सम्भव नहीं। व्यक्ति अपने निजत्व के इस आदर्श तत्व की प्राप्ति में निरन्तर प्रयत्नशील है। प्रयत्न ही उसका मुख्य गुण है। वह अपने स्वार्थ एवं अहम् को खोता है और दूसरे को अपने में पाता है। इतना ही नहीं वह लोकहितकारियों में रत हो जाता है और इसी के फलस्वरूप वह संसार में सौरभ बिखेरता है। निजत्व के इस अंग का अस्तित्व वर्तमान में न है और न भविष्य में ही होने को। किन्तु इसकी अनुभूति करने के लिये व्यग्र रहना मानव के आध्यात्मिक गुण हैं।

कुछ विचारकों के अनुसार शिक्षा के इस उद्देश्य का प्रयोग गलत अर्थ में सम्भव है। क्यों कि निजत्व के दो पहलू हैं—प्रकृति एवं पुरुष। एक भौतिक है तो दूसरा आध्यात्मिक। भौतिक पर यदि अधिक बल दिया जाय तो यह व्यक्ति में अहम्, अहंकार, अभिमान, एवं अनर्गल आत्म-सम्मान आदि की अभिवृद्धि करता है। ऐसी मनोवृत्ति समाज के लिए अहितकर है। इसी नीति के अनुगामियों ने कहा है, कि "जीवन अपने लिए है। मुझे मेरा भाग दो, मुझे मेरा मार्ग दो, मैं इसे चाहता हूँ और इसे लेकर रहूँगा।" ऐसे ही निजत्व के प्रतीक हिटलर और मुसोलनी थे। इस उद्देश्य से समाज के अहित की अधिक सम्भावना है। अतएव उन विचारकों ने शिक्षा का उद्देश्य निजत्व की अपेक्षा 'व्यक्तित्व के संतुलित विकास' को अधिक उपयुक्त माना है। व्यक्तित्व और निजत्व दो ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग प्रायः एक दूसरे के लिए होता है। किन्तु ऐडम्स के अनुसार "निजत्व केवल जीव-संबंधी तत्वों तक ही सीमित है।" यह स्वयं बलिष्ट है किन्तु कदाचित् ही प्रभावपूर्ण। व्यक्तित्व सर्वदा प्रभावशाली होता है, निजत्व एकाकी और व्यक्तित्व सामाजिक। यदि निजत्व में पाशविकता का प्रबल वेग है, तो व्यक्तित्व में

आध्यात्मिकता का अविरल स्रोत। ऐडमूस ने ठीक ही कहा है, कि "उसी मनुष्य का व्यक्तित्व प्रबल है जो दूसरों पर अपनी गहरी छाप डाल दे।"

इसके आलोचकों का यह कथन है कि यह उद्देश्य केवल पुस्तकीय है। इसको कार्यान्वित करना कठिन ही नहीं असम्भव है। प्रत्येक बालक की रुचि, प्रवृत्ति, एवं क्षमता विभिन्न है। इनके पूर्ण विकास के हेतु एक ही शिक्षा सबके लिये उपयोगी नहीं होगी। प्रत्येक शिशु के लिये एक सुविशेष पाठ्य-क्रम की आवश्यकता पड़ेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि निजत्व के पूर्ण विकास के लिये उतनी पाठशालाएँ, पाठ्य-क्रम एवं शिक्षण-विधि की आवश्यकता होगी जितने बालक होंगे, जो निःसंदेह असंभव एवं दुस्कर है।

बालक की रुचि एवं प्रवृत्तियाँ बुरी या भली हर प्रकार की होती हैं। सभी बालकों को इनके बिकास के लिए अवसर देना अवांछनीय है। असुन्दर प्रवृत्तियाँ समाज के लिए अहितकर होंगी। प्रत्येक शिशु के लिये अलग-अलग उद्देश्य का निरूपण करना सम्भव नहीं, और सचमुच यही इस उद्देश्य का महान् दोष है। अतएव यह उद्देश्य सर्वमान्य नहीं, और न यह एक मात्र शिक्षा का उद्देश्य माना जा सकता है।

शिक्षा का व्यक्तिगत तथा सामाजिक उद्देश्यः—शिक्षा कैसी हो, व्यक्ति के लिए अथवा समाज के लिए? इसका आधार कौन हो, व्यक्ति या समाज? इनमें से कौन शिक्षा की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है? यह एक विवादग्रस्त विषय है। आज से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व यूनानियों ने इस पर विवाद किया, रोम-निवासियों से भी यह प्रश्न अछूता न रहा। रूसो के समक्ष भी यह समस्या उसी रूप में उपस्थित हुई। फिक्ते और हीगल जैसे विचारक भी इस पर कुछ लिखे बिना न रह सके और आधुनिक युग का इंगलैण्ड का महान् शिक्षा-शास्त्री

टी० पी० नॅन ने तो इसी पर अपने शिक्षा-सिद्धान्तों को आधारित किया है।

सामाजिक उद्देय के समर्थकों में से कुछ ने राज्य अथवा समाज को एक सर्वोत्तम आदर्शों का प्रतीक माना है। उनका कहना है कि राज्य प्रत्येक दृष्टिकोण से व्यक्ति से श्रेष्ठ है क्योंकि यह न्याय और विचार का मूर्त-रूप है। इसका एक लक्ष्य है और उस लक्ष्य की प्राप्ति ही उसका उद्देश्य। अतः इसका मानव-जीवन पर पूर्ण अधिकार है। इतना ही नहीं यह मनुष्य को ऐसे ढाचे में भी ढाल सकता है जो इसकी सुरक्षा में सहायक हो। इस उद्देश्य-प्राप्ति के हेतु शिक्षा एक शक्तिशाली साधन है। यह मनुष्य की एक आवश्यकता एवं समस्या दोनों है। अतः राज्य का इस पर पूर्ण अधिकार ही नहीं वरन् राज्य को ही इसका प्रबन्ध तथा समाधान करने का अधिकार है। अतएव राज्य ही प्रत्येक व्यक्ति को अपने हितार्थ शिक्षा देगा। ऐसी दशा में राज्य अपने कर्म-चारियों द्वारा शिक्षा-सिद्धान्त, प्रयोग-प्रणाली, व्यवस्था, पाठ्यक्रम आदि निश्चित करता है। इस प्रकार की शिक्षा का उदाहरण हम प्राचीन स्पार्टा में पाते हैं जिसमें व्यक्ति अपने लिए नही वरन् राज्य के लिए जन्म लेता था और शिक्षा का अधिकाधिक प्रयोग राज्य की भौगोलिक सीमा को स्थायी बनाए रखना था। अतः शिक्षा का उद्देश्य, प्रत्येक नागरिक को सैनिक बनाना एवं उनमें शौर्य, पराक्रम, आज्ञाकारिता तथा सहन-शीलता की भावना उत्पन्न करना था।

ऐसी ही शिक्षा की ध्वनि हमें हिटलर-कालीन जर्मनी में सुनाई देती है। नात्सीदल ने शिक्षा का पूर्ण प्रयोग ही नहीं किया वरन् छापेखानों को बन्द किया, विदेशी पत्र पत्रिकाओं पर रोक लगाया और प्रत्येक नागरिक को उसमें पूर्ण श्रद्धा रखने के लिए बाध्य किया। फलस्वरूप शिक्षा में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समाप्त हो गई और शिक्षा-सिद्धान्त, शिक्षण-विधि, प्रयोग, प्रणाली एवं पाठ्य-विषय

का निर्धारण राज्य ने ही किया।

कहने का अभिप्राय यह है कि ऐसी शिक्षा व्यवस्था में जिसमें केवल राज्य या समाज का ही हित प्रधान हो व्यक्ति के नैसर्गिक गुण अविकसित रह जाते हैं, उसकी दैवी विभूतियों का ह्रास हो जाता है। इतना ही नहीं उसकी कार्य-क्षमता, दक्षता, एवं कार्य कुशलता नष्ट हो जाती है और उसका निजत्व कुंठित एवं उसकी मौलिकता का अन्त हो जाता है।

कुछ विचारक शिक्षा का प्रयोग समाजहित में करते हैं किन्तु उनका उद्देश्य समाज सेवा है। उनका नारा है 'शिक्षा समाज के लिए' 'शिक्षा नागरिकता के लिए' इतना ही नहीं शिक्षा समुदाय की भलाई के लिए है। प्रोफेसर बागले इस उद्देश्य के कट्टर समर्थक हैं। उनके शब्दों में "शिक्षा की कसौटी सामाजिक-कार्य-कुशलता एवं दक्षता है।" आजकल यही उद्देश्य हम अमेरिकी और आंग्ल-शिक्षा-व्यवस्था में पाते हैं। प्रायः इसी उद्देश्य पर हमारी भी शिक्षा-व्यवस्था आधारित है। समाज सेवा द्वारा व्यक्तित्व का विकास सम्भव है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। विचारकों ने ठीक ही कहा है—'मानव प्रकृति सचमुच उतनी ही सामाजिक है जितनी स्वरक्षक।" मनुष्य समाजहीन अवस्था में 'मानव' नहीं हो सकता। ऐडम्स ने व्यक्तित्व की व्याख्या करते हुये कहा है कि 'व्यक्तित्व का प्रदर्शन समाज में ही सम्भव है।'

कुछ विचारकों के मतानुसार व्यक्ति ही प्रधान है। व्यक्ति द्वारा ही समाज का निर्माण होता है। सामाजिक संस्थाओं के अस्तित्व का एक मात्र उद्देश्य व्यक्ति के जीवन को सुन्दर, सुखद, समृद्धिशाली एवं फलदायक बनाना है। विद्यालय भी एक ऐसी संस्था है जिसके पूर्व-निर्मित वातावरण में व्यक्ति का पूर्ण विकास होता है।

टी० पी० नॅन के मतानुसार मानव के व्यक्तित्व का विकास समाज

चाहिये, है। वह अपनी शिक्षा योजना में विज्ञान को प्रमुख तथा कला और साहित्य को गौण स्थान देता है, क्योंकि विज्ञान ही मनुष्य को अपने व्यवसाय में चतुर, आत्मनिर्भर एवं कर्मठ बनाता है। इसके विपरीत हरबार्ट वादियों का जीवन उद्देश्य चरित्र-निर्माण है। फलतः शिक्षण का लक्ष्य विचार-परिधि* को रुचि द्वारा परिपक्वता प्रदान करना एवं सुव्यवस्थित बनाना है। अतएव वे ही विषय वांछनीय हैं जिनमें नैतिक एवं मार्मिक भावों का प्राधान्य हो। इतिहास तथा साहित्य ही इस दृष्टि से सर्व प्रथम हैं तथा गणित एवं विज्ञान न्यूनतम उपयोगी हैं, क्योंकि वे शुष्क एवं नितांत भौतिक जीवन संबंधी हैं, अतः ये हरबार्ट के पाठ्यक्रम में नगण्य से हैं। शिक्षा-इतिहास पर यदि हम विहंगम दृष्टि डालते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि पाठ्यक्रम के मूलधार में दार्शनिक विचारधारायें ही स्थित हैं। स्पार्टन एवं एथेनियन पाठ्यक्रम इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। वर्तमान अमेरिकी एवं रूसी शिक्षा-योजना तथा उनके पाठ्य-विषय, उनके राजनैतिक-दर्शन एवं परिस्थिति के ही प्रतिफल एवं परिचायक हैं। आज अमेरिकी विचारधारा में व्यक्ति एवं राष्ट्रीय समृद्धि की भावना ही प्रधान है। अतः उनके शिक्षा में विज्ञान तथा व्यवसाय सम्बन्धी विषयों का ही प्राधान्य है।

सोवियत शिक्षा योजना एवं पाठ्यक्रम में, साम्यवादी दर्शन व्याप्त है। प्रारम्भिक शिक्षा काल ही में, बालकों के प्रकृति, श्रम और समाज सम्बन्धी वस्तु, क्रिया एवं अनुभव पर अत्यधिक बल दिया जाता है। क्रीड़ा और श्रम ही उनके शैक्षिक प्रक्रिया के मूल हैं। माध्यमिक विद्यालयों में 'लेबर-स्कूल' प्रमुख हैं। उनमें भौतिक वस्तुओं का उत्पादन ही प्राथमिक है। अतः श्रम तथा 'शारीरिक-क्रिया' आदि

*Circle of thought.

पाठ्य-क्रम के मुख्य अंग हैं। प्रयोगवादी शिक्षा-विद्, डीवी ने 'प्रोजेक्ट' को ही पाठ्यक्रम का आधार माना है।

सारांश यह है कि पाठ्यक्रम एवं पाठ्य-विषय जीवन के दार्शनिक विचारधाराओं ही पर आधारित होते हैं। ब्रिग्स ने ठीक ही कहा है कि 'शिक्षा को पाठ्यक्रम के चुनाव ही में उन अगुवों की आवश्यकता है जिनमें निजी दार्शनिक-सिद्धान्त-ज्ञान अत्यन्त दृढ़ हो, जो अपने विचारों से अन्य व्यक्तियों को भी सहमत कराने का सामर्थ्य रखते हों तथा पाठ्यक्रम की व्यवस्था करते समय अपने सिद्धान्तों का सतत प्रयोग करने व कराने में समक्ष हों'* ।

पाठ्यक्रम की भांति पाठ्य-पुस्तकें भी दर्शन से प्रभावित होती हैं। पाठ्य-पुस्तकें विद्यार्थियों के ज्ञानार्जजन की आधारशीला हैं। प्रत्येक विषयात्मक-ज्ञान के मूल में कोई विशिष्ट दार्शनिक विचारधारा निहित रहती है। अतएव प्रत्येक पाठ्य-पुस्तक किसी विशिष्ट विचार-धारा के प्रसारण का माध्यम है। शिक्षा-उद्देश्य की पूर्ति के हेतु पाठ्यपुस्तकें एक साधन हैं। अतः इनके चुनाव में शिक्षा-उद्देश्य, तत्सम्बन्धी जीवन-उद्देश्य एवं दर्शन का बड़ा ही महत्व है। इनका, दर्शन की ही प्रेरणा से निर्माण होता है। नात्सी-अधिनायक-कालीन जर्मनी में पाठ्यपुस्तकों की रचना केवल वेही इने गिने व्यक्ति करते थे जिनमें दलनायक का पूर्ण विश्वास था क्योंकि उनके द्वारा नात्सी-विचारधारा में कोइ विच्छेद होने का भय न था।

*"It is just here that education seriously needs leaders—leaders who hold a sound comprehensive philosophy of which they can convince others, and who can direct its consistent application to the formulation of appropriate curricula."

Briggs, 'Curriculum Problems.' P. 8.

शिक्षण पद्धति, शिक्षार्थी एवं विषय में परस्पर संबंध स्थापित करती है। इसके मूल में दार्शनिक-विचार एवं मनोवैज्ञानिक-तथ्य, दोनों निहित हैं। जहाँ तक इसका सम्बन्ध बालक से है यह मनोवैज्ञानिक-सिद्धान्तों से प्रभावित होता है तथा विषय-चयन एवं शिक्षा-उद्देश्य-निरूपण के हेतु दार्शनिक विचारधारा का प्रश्रय लेता हैं। रूसो के अनुसार 'बालक स्वभावत: सुन्दर हैं' किन्तु 'समाज के सम्पर्क से ही वह दूषित होता है'। अत: वह शिक्षा में अनुभव को प्रत्यक्ष-निरीक्षण एवं स्व-क्रिया द्वारा प्राप्त करने पर ही बल देता है। फ्रोबेल के अनुसार 'बालक स्वत: ईश्वर मय है। उसका स्वभाव सुन्दर एवं पूर्ण है; और वह दैवी-प्रकृति को अपने स्व-क्रियाओं द्वारा प्रदर्शित कर रहा है।' उसकी क्रियाओं में हस्तक्षेप करना उचित नहीं, अत: इस विचारधारा पर आधारित उसकी हस्तक्षेप-रहित-शिक्षण-विधि—खेल, क्रीड़ा, चित्रकला एवं अनुदान आदि—रचनात्मक क्रियाओं पर आधारित हैं।

प्रकृतिवादी बालक के मूल-प्रवृत्तियों, नैसर्गिक-वृत्तियों और तात्विक-आवश्यकताओं आदि को ही प्रधान समझता है। वह बालक के अनिश्चित भविष्य के लिए उसके वर्तमान को 'गिरों' रखना उचित नहीं समझता। अत: वह ऐसी शिक्षण-विधियों के पक्ष में है जो बाल-केन्द्रित हों, उसे सक्रिय रखती हों, एवं बालक के इच्छानुसार कार्य करने में बाधक न हों। अत: 'ह्यूरिस्टिकपद्धति' और 'गैरी-योजना' आदि प्रकृतिवादी विचारधारा के ही देन हैं। प्रसिद्ध 'प्रोजेक्ट-विधि' के मूल में प्रयोगवादी दर्शन के ही सिद्धान्त निहित हैं। सारांशत: उपर्युक्त विभिन्न शिक्षण विधियों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षण-विधि भी दार्शनिक-विचार-धाराओं से प्रभावित होती हैं।

विनय भी दार्शनिक विचारधाराओं के अनुकूलक ही होता है। अधिनायकवादी देशों में पाठशालाओं में 'लेफ्ट राइट' की ध्वनि ही सुनाई पड़ती है। बन्दूक और बूट के भार से बालक तथा युवक दबे से दिखाई देते हैं। समय का बन्धन 'काशन' पर सावधान हो जाना और कसरत आदि में व्यस्त रहना ही अधिनायकवादी शिक्षण-संस्थाओं का विनय है। सामंत, राज्य अथवा धर्मान्ध-वादी काल में साधारण अपराधों के लिए भी कड़ा से कड़ा दण्ड देना साधारण सी बात थी। इसी का प्रतिबिम्ब हम तत्कालीन पाठशालाओं में पाते हैं। लिखने, पढ़ने और गिनने की साधारण सी त्रुटि पर भी कठिन से कठिन दण्ड तथा बालक में सर्वदा नम्रता, दयनीयता और गुरु-आज्ञा शिरोधार्य ही तात्कालिक विद्यालयों के विनय के स्वरूप थे।

प्रकृतिवादी, बालक को साधु समझते हैं। ताड़ना अथवा दण्ड द्वारा भयभीत करना उनका कार्य नहीं। उनका विश्वास है कि स्व-क्रिया एवं स्व-अनुभव से बालक विनयी बनता है। प्रयोगवादी बालक को सर्वदा क्रियारत रखने के पक्ष में हैं। उनका कहना है कि कार्य-व्यस्त बालक को इतना समय ही नहीं है कि वह दूसरे के कार्य में बाधा उपस्थित करे। कार्यव्यस्तता ही व्यक्ति को विनयी बनाती है। आदर्श-वादी उच्च-आदर्शों के द्वारा विनय के समर्थक हैं। अस्तु; विनय भी दार्शनिक सिद्धान्तों पर ही आश्रित है।

दर्शन-शास्त्र से अध्यापक भी प्रभावित होता है। उसके सम्मुख एक निश्चित शिक्षा-उद्देश्य रहता है जिसके प्राप्ति हेतु ही वह शिक्षा प्रक्रिया को सर्वदा प्रभावित किया करता है। यह उद्देश्य स्वतः उसका निजी-उद्देश्य नहीं वरन् किसी विशिष्ट दार्शनिक विचारधारा का ही देन है, जिसके अनुरूप ही उसकी क्रियायें, होती हैं। आदर्शवादी

अध्यापक एक योग्य माली के समान, बाल-पौधे की सुरक्षा एवं समुचित विकास का ध्यान रखता है। ठीक इसके विपरीत प्रकृतिवादी-अध्यापक बालक को स्वेच्छानुसार कार्य करने का अवसर प्रदान करता है। कहने का अभिप्राय यह है. कि अध्यापक का कार्य अथवा बालक की स्थिति, निस्संदेह प्रतिक्षण दार्शनिक विचारधाराओं से सम्बद्ध रहती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन एवं शिक्षा में घनिष्ट संबंध है। यह समझना कि दर्शन जैसे वैकल्पिक विषय का शिक्षा-सिद्धान्त एवं शिक्षण-प्रयोग से कोई संबंध नहीं, भूल है। आखिर दर्शन है क्या ? तर्कपूर्ण-विधिपूर्वक, जीव, जगत, ब्रह्मांड आत्मा, परमात्मा आदि सभी के विषय में अनवरत विचार-क्रम एवं चिंतन को ही दर्शन कहते हैं। दार्शनिक वह है, जो ज्ञान-पिपासु हो तथा उसके प्राप्ति हेतु उत्सुक एवं चिर-अतृप्त रहे। ऐसा व्यक्ति अपने काल, की राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक, नीति, दशा एवं परिस्थितियां आदि से अपने विचार एवं चिंतन में प्रभावित होता है, और उन्हीं के अनुरूप एक जीवन-दृष्टिकोण या विचारधारा को जन्म देता है। और इस विचारधारा को ऐसे ढंग से तर्कपूर्वक उपस्थित करता है कि अन्य भी इसकी सत्यता को मान लें। यही उसका सतत् प्रयत्न रहता है। इसी कार्य में वह प्रतिक्षण लीन रहता है। अपनी कल्पना को कार्यशील बनाने तथा औरों को अपने कल्पित तथ्य तक पहुँचाने के लिए विभिन्न प्रकार के साधनों का उपयोग करता है। इन साधनों में शिक्षा सबसे प्रबल साधन है जिसके सिद्धान्त एवं प्रयोग को वह अथवा उसके अनुगामी अपने ही दृष्टकोण के अनुसार निरूपित करते हैं। अतः शिक्षा के प्रत्येक अंग में उनके विचारों का पुट विद्यमान रहता है, किन्तु यह इतने सूक्ष्म रूप में निहित रहता है कि इसको प्रत्येक शिक्षित सरलता से नहीं ज्ञात कर सकता। अतः वह शिक्षा को दर्शन

रहित समझने का साहस कर बैठता है, जो सर्वथा निर्मूल है। ऐसे ही व्यक्तियों के भ्रम-निवारण हेतु उपर्युक्त विवेचन प्रस्तुत है और आगामी पृष्ठों में भी इसी विषय की मीमांसा की गई है।

४

शिक्षा में आदर्शवाद

(अ) आदर्शवाद–धर्म से सम्बद्ध–दर्शनका अनन्तनिबन्ध; इसके अनेक रूप–मूल सिद्धान्त एक–मानव जीवन के दो अंग; भौतिक तथा आध्यात्मिक क्रमशः पशु तथा मानव सापेक्ष ।

(ब) शिक्षा में आदर्शवाद–मनुष्य की दो क्रियायें–आध्यात्मिक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति समान—शिक्षा सभी के लिये–शिक्षा विरासत तथा संचरण–शिक्षा एक समस्या–शिक्षा के भौतिक तथा आध्यात्मिक रूप ।

(स) आदर्शवाद एवं शिक्षा उद्देश्य–अध्यापक–पाठ्य क्रम –विनय एवं बालक ।

आदर्शवाद:—आदर्शवादी विचारों का स्रोत हम मानवों की पुरातन भावनाओं* में पाते हैं। अतः धर्म और आदर्शवाद में अटूट सम्बन्ध है। वैदिक, बौद्ध और जैन धर्म; आदर्शवाद और धर्म के अनन्योनाश्रित सम्बन्ध के प्रतीक हैं। चीन का लाटिज़ियो× का दर्शन, यहूदी सिद्धांत और ईसाई धर्मों में भी आदर्शवादी विचार विद्यमान हैं। धर्म से प्रेरित भावनाओं की तार्किक व्याख्या, दार्शनिक आदर्शवाद की नीव है। भावनायें एक प्रकार के विशिष्ट विचार हैं जिनकी उत्पत्ति अन्तः प्रेरणा के फलस्वरूप होती है। अस्तु; यदि हम आदर्शवाद को अन्तः प्रेरणा पर आधारित विचारों का वाद कहें तो अनुपयुक्त न होगा।

मानव-जागरण-काल से ही प्रायः प्रत्येक मनुष्य में यह अन्तः प्रेरणा न्यून या अधिक मात्रा में होती आई है जिसके फलस्वरूप भिन्न भिन्न प्रकार के विचारों की उत्पत्ति हुई है। ये ही भिन्न-भिन्न विचार

* Intutions. × Laotzeo.

आदर्शवाद के नाड़ी-तंत्र हैं। अतएव आदर्शवाद को हम विचारवाद भी कह सकते हैं। आंग्लीय शब्द 'आइडियाइज्म'ऽ से आदर्शवाद का उचित अर्थबोध होता है। विचार, मन× के कार्य हैं। वस्तुत: आदर्शवाद को मस्तिष्कवाद* या आध्यात्मवाद कहना भी अनुचित न होगा।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से आदर्शवाद का प्रादुर्भाव पाश्चात्य देशों में हमें सुकरात और प्लेटो की रचनाओं में मिलता है। सुकरात ने अपने चिन्तन का विषय मनुष्य को बनाया और स्पष्ट शब्दों में कहा, "भौतिक चिन्तन से हमें कोई वास्ता नहीं, मनुष्य ही, मनुष्य के चिन्तन का उपयुक्त विषय है।"+ प्लेटो ने अपनी रचना 'रिपब्लिक' में 'स्थायी और सर्वव्यापी' पर जोर दिया और इसे 'वास्तविक तथा क्षणिक' से अधिक महत्वपूर्ण बताया है। उसका मत है कि 'दृष्टिगत वस्तु अस्थायी और क्षणिक है और अदृष्टिगत अनादि'। "विचार दैवी उत्पत्ति हैं।"÷ अत: ये स्थायी और सर्वव्यापी हैं। इन विचारों का ज्ञान भावनाओं और तर्क-वितर्क द्वारा होता है और दृश्य-जगत का ज्ञानेन्द्रियों द्वारा।

प्राच्य संस्कृति में वेदान्त, आदर्शवादी दार्शनिक विचारों के संकलनात्मक रूप हैं। वेद, उपनिषद, गीता और दर्शनों में आदर्शवादी विचारों की शृङ्खला अविछिन्न है। ऐडम्स के कथनानुसार, 'आदर्शवाद

ऽ Idealism. ×Mind. *Mentalism.

+ I have nothing to do with physical speculations. The proper business of mankind is man" Socrates–"Apology' P. 96.

÷ "Ideas are of the divine originals."–Plato's Republic. P. 500.

किसी न किसी रूप में दर्शन के इतिहास में सर्वत्र व्याप्त है।" 'हांकिंग' ने तो आदर्शवाद को दर्शन का अनन्त-निबंध† कहा है। आदर्शवाद सर्वदा विचारकों के आक्रमण और आलोचना का विषय रहा है। इसके विरोध में ही नयी विचारधाराओं का सूत्रपात हुआ, और सच तो यह है कि आदर्शवाद विरोध में जीवित ही नहीं वरन् उनतिशील भी है।

अपने एक रूप में आदर्शवाद, आधुनिक विज्ञानवाद के निकट है। विचार-प्रवणता, कार्य-कारण-शृङ्खला, भिन्नत्व में अभिन्नत्व; जहाँ एक ओर विज्ञानवाद के मूलाधार हैं वहीं आदर्शवाद के अनुसार भी जगत विवेकयुक्त, इसके कार्य-कारण में सम्बन्ध, तथा भिन्नत्व में एकत्व व्याप्त है। आदर्शवादियों के अनुसार जगत का कार्य यंत्रात्मक नियमों पर आधारित नहीं वरन् यह एक जीव-तुल्य है जिसमें एक शरीर और एक आत्मा है। इसका स्थूल रूप सर्वव्यापी मन की एक वाह्य अभिव्यक्ति है। हीगेल विश्व को चिन्तन की एक महान् प्रक्रिया मानता है; और भौतिक जगत को चिन्तन की अभिव्यक्ति।

आदर्शवाद अपने दूसरे रूपमें मन और उसकी अवस्थाओ को भौतिक जगत का उद्गम मानता है और यथार्थता* को मानसिक×। प्रत्येक अणु में जीवन, मष्तिष्क और शक्ति है। ये निर्जीव स्थूलांश नहीं अपितु अभेद-सजीव-अणु+ हैं, जिनमें आत्मा निहित है और जो शक्ति के केन्द्र हैं। मनुष्य का मन इन सभी को नियंत्रित करता है।

भौतिक जगत एक घटना-चक्र÷ है जिसके अनुसार जगत की वस्तुओं का अस्तित्व उसके प्रत्यक्षीकरण में ही है। यदि उनका प्रत्यक्षीकरण न हो तो वे अस्तित्व-विहीन हैं। अर्थात् उनका अस्तित्व मन

† Thesis. *Reality. ×Psychic. +Monad.
÷Phenomenon

ही में निहित है। यह संसार मानसिक सृष्टि है और इसकी वास्तविकता मन ही में है।

सुकरात और प्लेटो के अतिरिक्त कौंत, फिक्ते, हीगेल, शेलिंग, शोपेनहीयर, बर्गसन और बर्कले आदि पाश्चात्य आदर्शवाद के प्रमुख विचारक हैं। बर्गसन पदार्थ शक्ति और मन को छोड़कर जीवन पर ही जोर देता है। फिक्ते 'अहम्' को ही सबकुछ समझता है। 'अहम्' ही सर्वश्रेष्ठ वास्तविकता है। हीगेल के अनुसार वास्तविकता तर्क और बिवेक है और संसार एक सविवेक प्रक्रिया है।

आदर्शवाद के अनेक रूप होते हुये भी इसका मूल सिद्धांत एक ही है। प्रकृति बाह्य रूप से तो पूर्ण प्रतीत होती है, परंतु अपूर्ण है। इसकी पूर्णता किसी ऐसे बस्तु पर आधारित है, जो दृष्टिगतपूर्णता-चक्र के बाहर है। यह अपने मार्ग पर चलती हुई, अपने नियमों को कार्यान्वित करती हुई स्वतंत्र और अनादि दृष्टिगोचर होती है। और ऐसा प्रतीत होता है कि इसको किसी निर्माता या किसी ऐसी शक्ति की आवश्यकता नहीं, जो इसके बाहर हो; क्योंकि इसके मूल में कोई ऐसी शक्ति निहित है जो इसे क्रियमाण कर रही है। और वह अनादि, सर्वव्यापी एवं स्वभावतः यथार्थ है। वही बस्तु शाश्वत-शक्ति* ब्रह्म या मन × है। वेदांत के अनुसार "एकोऽम् बहुस्याम्" की इच्छा से ही यह भौतिक जगत ब्रह्म से उत्पन्न हुआ। उस मन को हम अपना मन, सजातीय मन अथवा सर्वव्यापी मन कहते हैं। अतएव आदर्शवाद का कथन है कि मन ही मूलतः यथार्थ है। यही संसार की आवश्यक बस्तु + है। और इसीपर जगत, शक्ति एवं विचार अवलंबित हैं। इसीलिये आदर्शवादियों के अनुसार मनुष्य के मन और विचार उसके शरीर से अधिक महत्वपूर्ण हैं और यह उन वस्तुओं से भी अधिक मूल्यवान है जिसके द्वारा मनुष्य अनुभव प्राप्त करता है।

*Eternal force. ×God or Mind +Stuff

प्रकृति अथवा जगत और मनुष्य के दो अंग हैं—भौतिक एवं आध्यात्मिक। मनुष्य का आध्यात्मिक जीवन, भौतिक जीवन से अधिक श्रेष्ठ और मूल्यवान है। मानव के सर्वोत्तम गुण जन्मजात होते हैं और उसमें ये सुप्तावस्था में दबे पड़े रहते हैं। मनुष्य उनके विकास और प्राप्ति के लिए सदा व्यग्र रहता है, सर्वदा रहा है और सर्वदा प्रयत्न शील रहेगा। मनुष्य के आत्म-विकास और गुण-प्राप्ति की रचनात्मक क्रियाओं के फल स्वरूप ही आध्यात्मिक जगत की सृष्टि हुई। यह आध्यात्मिक जगत सचमुच उसके सुन्दर रचनाओं का प्रतिफल है। मनुष्य ने इस जगत को स्वयं निर्मित किया है और यही जगत उसके लिए उपयुक्त भी है।

भौतिक जगत पशुओं के लिये अधिक वांछनीय है। पशु इसे जिस रूप में पाता उसी में ग्रहण कर लेता है। वह अपने को ही, इसके उपयुक्त बना लेता है। इसके विपरीत मानव भौतिक जगत को उसके प्रत्येक रूप में सदैव ग्रहण करने को तत्पर नहीं, वह तो अपनी आवश्यकताओं को प्राथमिकता प्रदान करता है और तदनुकूल भौतिक जगत को बनाने का प्रयत्न करता है। फलतः वह संघर्ष करता है और यही उसका प्रमुख कार्य रहा है। इस प्रकार मनुष्य के कार्य द्विमुखी हुये—भौतिक और आध्यात्मिक। भौतिक-वाह्य-प्रकृति को अपने आवश्यकतानुकूल परिवर्तित करने एवं वातावरण को अपने योग्य बनाने तथा अन्तर्निहित गुणों को व्यक्त करने और प्राप्त करने की क्रिया मनुष्य करता आ रहा है। इस प्रकार उसके क्रियाशील होने में ही उसकी प्रगति तथा उन्नति निहित है। इस उन्नतिक्रम में दो क्रियायें प्रमुख हैं। एक ओर वह अपने पूर्वजों के अर्जित ज्ञान व गुणों को ग्रहण करता और उससे लाभान्वित होता है; तो दूसरी ओर वह अपने अन्तर्निहित गुणों को अभिव्यक्त करता हुआ परम्परागत गुण व ज्ञान कोष को बढ़ाता है।

शिक्षा में आदर्शवाद

ऊपर कहा गया है कि दर्शन के अनुसार आदर्शवाद के अनेक रूप हैं ; किन्तु इनके मूल सिद्धान्त साधारणतया समान हैं। यह भी स्पष्ट हो चुका है कि मनुष्य सामान्यतः दो प्रकार की क्रियायें करता आ रहा है, एक का संबंध भौतिक जगत से है तथा दूसरे का आध्यात्मिक से। इन क्रियाओं से प्रतिफलित अपने संचय-कोष को वह संसार में छोड़ता जाता है। ये कोष भी मूलतः दो प्रकार के हैं पहला भौतिक तथा दूसरा आध्यात्मिक। परंतु इनमें और इनके यथातथ्य प्राप्तीकरण में भेद है। भौतिक अधिकृत पदार्थ तो 'विरासत' से प्राप्त होते हैं; परंतु आध्यात्मिक, स्व-प्रयत्न एवं अर्जन द्वारा। वे भौतिक अधिकृत पदार्थों के समान नहीं प्राप्त होते। भौतिक अधिकृत पदार्थ से तात्पर्य भौतिक वस्तुओं पर परम्परागत अधिकार से है। उदाहरण स्वरूप पिताके मृत्योपरान्त पुत्र उसकी सम्पूर्ण भौतिक सम्पत्ति का अधिकारी हो जाता है परंतु आध्यात्मिक जगत की यह परम्परा नहीं। पिता के आध्यात्मिक कोष को पुत्र भौतिक पदार्थों के तुल्य नहीं प्राप्त करता वरन् वह इसे नये सिरे से प्राप्त करना आरम्भ करता है। अतएव जहाँ तक आध्यात्मिक संचयों एवं उनकी प्राप्ति का प्रश्न है प्रत्येक व्यक्ति समान है।

यदि आध्यात्मिक दृष्टिकोण से प्रत्येक व्यक्ति समान है तो प्रत्येक को शिक्षा-प्राप्ति के लिये समान अवसर मिलना चाहिये। शिक्षा प्रत्येक के लिए होनी चाहिये। अस्तु, आदर्शवादमें यह महान शैक्षिक-सिद्धान्त निहित है कि शिक्षा की व्यवस्था कतिपय सौभाग्य शालियों के लिये ही नहीं अपितु जनसाधारण के लिए होनी चाहिये। इतना ही नहीं एक और मुख्य सिद्धान्त इसमें निहित है कि शिक्षा सबके लिए

आवश्यक है; क्योंकि 'आध्यात्मिक प्राप्तियाँ' या ज्ञान-विज्ञान को प्रत्येक पीढ़ी या व्यक्ति को नये सिरे से प्राप्त करना पड़ता है।

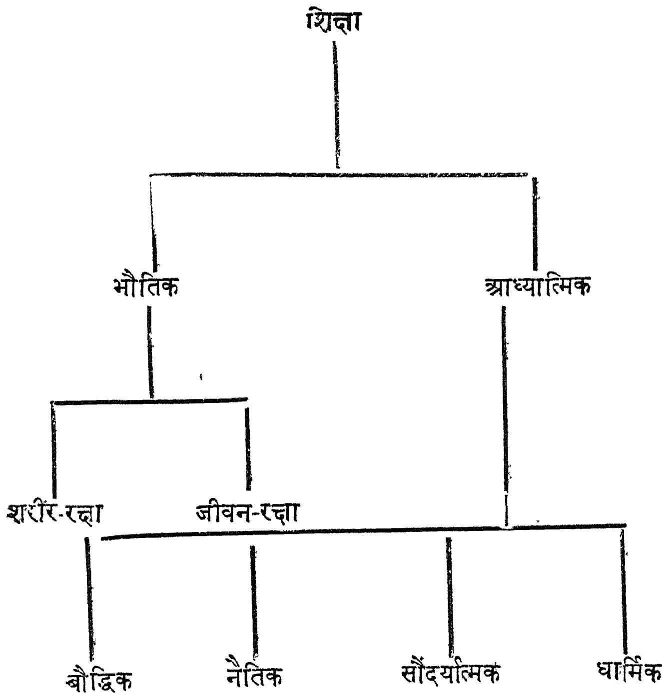
प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं ज्ञान अर्जन करना है इतना ही नहीं उसे अपने पूर्वजों की सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक विरासत को सर्वदा सम्हाले रहना है। इस सम्पत्ति को इस प्रकार सुरक्षित रखना है कि वे अक्षुण्य रह सकें और यदि वे ह्रासोन्मुखी भी हों तो न्यूनतम्। ठीक इसी अर्थ में 'बेकन' ने शिक्षा को "एक प्रकार की परम्परा कहा है"। तथा 'जी० के० चेस्टरटन' के अनुसार "शिक्षा संचरण या विरासत है।"

आध्यात्मिक अर्जन जड़वत स्थिर नहीं वरन् गतिशील होते हैं। ये सतत् वृद्धिशील तथा प्रसारोन्मुखी होते हैं। मनुष्य युगों से अपनी रचनात्मक-क्रियाओं द्वारा इन्हें परिवर्द्धित करता आया है। जब तक यह संसार प्रगतिशील है ये क्रियायें निरंतर बढ़ती रहेंगी और संचरण के विषय भी, जिनको पुनः प्राप्त करना है, बढ़ते रहेंगे। ऐसी दशा में ये अर्जन प्रत्येक अवस्था में नई समस्या के रूप में प्रस्तुत होते रहेंगे; और उनका समाधान करना प्रत्येक अवस्था में आवश्यक होगा। इसको शिक्षा द्वारा मनुष्य करता आ रहा है और करता रहेगा। इसी अर्थ में यह समस्या एक शैक्षिक समस्या होगी। अतः हम कह सकते हैं कि शिक्षा की समस्या सर्वदा वर्तमान रहेगी और इसके समाधान में ही शिक्षा-विकास निहित है। इस विकास के साथ ही साथ शैक्षिक मूल्यों के निर्धारण की आवश्यकता भी सदैव पड़ती रहेगी और शिक्षा को सुगम तथा अर्जन को ऋजुमार्गी बनाने के लिये नवीन शैक्षिक पद्धतियों और प्रणालियों की आवश्यकता पड़ेगी। इसी अर्थ में जेंटाइल ने कहा है "हमारी शिक्षा मानव-सम्बन्धिनी है क्योंकि यह एक क्रिया है, वस्तु नहीं। यह एक समस्या है जिसे हम सदा सुलझाते हैं और सुलझाते रहेंगे।"

आदर्शवादियों ने मानवीय वातावरण को भौतिक तथा आध्यात्मिक (अथवा जो मानसिक तथा सामाजिक भी है) वातावरण में विभाजित किया है। अतः शिक्षा के भी दो रूप होने चाहिये, भौतिक तथा आध्यात्मिक। प्राचीन विचारधारानुसार भी "शरीमाद्यम खलु धर्म साधनम्" शरीर की रक्षा करना सबसे बड़ा धर्म है अस्तु शरीर की देखभाल करना और उसे सुरक्षित रखना परमावश्यक है। मनुष्य के लिए स्वास्थ्य तथा शरीर-सुरक्षा इसीलिए आवश्यक है कि स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मस्तिष्क तथा आध्यात्मिक खोजों और प्रातियों के हेतु सुगमता प्रदान करता है। अस्तु शिक्षा का भौतिक उद्देश्य शरीर की देखभाल करना तथा उसे सुरक्षित रखना है। आध्यात्मिक ज्ञान के साथ ही साथ जीवनोपयोगी (भौतिक) ज्ञान भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसी पर उसका जीवन निर्भर है। इन्हीं की सहायता से अपने भौतिक वातावरण को अपनी इच्छानुसार और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अधिक उपयुक्त बना लेता है।

किन्तु शिक्षा का आध्यात्मिक अंग मनुष्य के लिए अधिक महत्व-पूर्ण है। विवेक, मनुष्य को पशु से पृथक करता है और यही मानव को मानव बनाता है; उसके गुणों को विकसित करता है। मनुष्य विवेकशील प्राणी है, विवेकशीलता ही उसका प्रधान गुण है। उसकी विवेकशीलता उसके (१) बौद्धिक (२) सौन्दर्यात्मक (३) नैतिक तथा (४) धार्मिक क्रियाओं पर आश्रित है; तथा इसके अनुफल—ज्ञान, कला, नैतिकता तथा धर्म का सुन्दर सम्मिश्रण है। इनमें से किसी के भी अभाव में, विवेकशीलता पंगु है। अतएव शिक्षा का उद्देश्य शिक्षार्थी को इन क्रियाओं को सफलता पूर्वक करने अथवा ज्ञान, कला, नैतिकता तथा धर्म के अनुशीलन और प्रतिपादन करने योग्य बनाना है। वह शिक्षा-प्रणाली निश्चित ही अपूर्ण है जो इनमें से किसी एक की भी अवहेलना करती हो। किन्तु रास के कथनानुसार भौतिक

तथा आध्यात्मिक क्रियायें सर्वथा अलग-अलग नहीं की जा सकतीं। उनमें कतिपय उभय-पक्षी बातें भी हैं। अतः इस प्रकार की संभावित भ्रांतियों से बचने-बचाने के हेतु उसने एक योजना दी है जो पूर्ण और उदार शिक्षा-प्रणाली को स्पष्ट करती है और पूर्ण शिक्षा के दृष्टिकोण का प्रतिपादन करती है :—



आदर्शवाद तथा शिक्षा उद्देश्य—आदर्शवादियों का विश्वास है कि वास्तविकता की स्थिति आध्यात्मिकता में ही है तथा कतिपय विचार या आदर्श बालकों में प्रच्छन्न रूप से विद्यमान रहते हैं। ये विचार अथवा आदर्श बालक में आरंभ में ही विद्यमान रहते हैं; क्योंकि बालक का मन, विश्वमन या विश्वात्मा अथवा ब्रह्म का ही एक अंश है। बालक में तथा ब्रह्म में अंश-अंशी का संबंध है। ब्रह्म आदर्शों का समुच्चय रूप है। अतः आदर्शवादी, जीवन के कतिपय आदर्श अथवा मूल्यों को सर्वदा महत्वपूर्ण समझते हैं। उनकी प्राप्ति ही उसके जीवन का मुख्य उद्देश्य है। अतएव शिक्षा का उद्देश्य भी इन मूल्यों की प्राप्ति में बालक की सहायता करना है।

आदर्शावदी आत्मा को परमात्मा का अंश मानते हैं। प्रत्येक आत्मा में कुछ विशिष्ट एवं अद्वितीय गुण निहित होते हैं। यही गुण आत्म-गुण हैं और इनका ज्ञान ही आत्म-ज्ञान। अतएव शिक्षा का उद्देश्य आत्म-ज्ञान की प्राप्ति है। आज संसार के सभी विद्यालयों में केवल ज्ञान अथवा इल्म पर बल दिया जा रहा है। शिक्षा का उद्देश्य ऐसा ज्ञान प्राप्त करना नहीं है; क्योंकि टी० यस० इलियट के कथनानुसार "इस ज्ञान ने बीस शताब्दियों में मनुष्य को ईश्वर से बहुत दूर कर भौतिक जगत के समीप ला दिया है।" यह ज्ञान निःसन्देह जीवन-उद्देश्य की प्राप्ति का साधन है, साध्य नहीं। यदि ज्ञान, आत्म-ज्ञान के लिए और इल्म, इरफान के लिये हो तो वह सार्थक है; अन्यथा निरर्थक। प्लेटो अथवा भारतीय मनीषियों ने ज्ञान की सार्थकता आत्म-ज्ञान की प्राप्ति में ही सर्वदा समझा है और उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य आत्म-ज्ञान प्राप्त करना है।

अदार्शवादियों का यह भी मत है कि प्रत्येक मानव में सृजनात्मक एवं गवेषणात्मक शक्तियाँ बीज-रूप में निहित रहती हैं और समुचित वातावरण में ही पुष्पित-पल्लवित होती हैं। ये गुण या

शक्तियाँ प्रत्येक की स्व-शक्तियाँ हैं। इस दृष्टिकोण से प्रत्येक व्यक्ति अकेला है और उसका व्यक्तित्व असमान। शिक्षा का उद्देश्य इन प्रच्छन्न शक्तियों को प्रेरणा देकर एवं उनको अग्रसर कर व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना है।

मानव को जो कुछ भी प्राप्त करना है वह चाहे परा हो अथवा अपरा, उनमें आध्यात्मिक सर्वोच्च और सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। वैसे तो इसकी प्राप्ति मनुष्य के स्व-प्रयत्न एवं अर्जन की इच्छाशक्ति तथा लगन पर निर्भर है; परंतु इस विषय में समाज द्वारा प्रदत्त सहायता का भी विशेष महत्व है। कालांतर से समाज, मानव हेतु ऐसी सहायता करता आ रहा है, जो मानव-प्रगति अथवा व्यक्ति के आत्म-उन्नयन के लिये परमावश्यक है। इसी को मानव एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक के संचरण हेतु विभिन्न साधनों का उपयोग करता आरहा है। शिक्षा इन साधनों में से सबसे अधिक महत्वपूर्ण साधन है। अतएव शिक्षा का उद्देश्य सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक प्राप्तियों को हस्तांतरित कराना एवं मानव को प्रत्येक अवस्था में इन्हें प्राप्त करने की सुविधा प्रदान करना है। अस्तु, शिक्षा का कार्य मनुष्य जाति को आध्यात्मिक-जगत में प्रविष्ट कराना तथा व्यक्ति के आध्यात्मिक स्तर का उन्नयन करना है।

आदर्शवाद तथा अध्यापक:—आदर्शवादी, बालक की भाँति अध्यापक के प्रति भी सहानुभूति रखते हैं। बालक इस जगत में, "गगन से सौरभ बिखेरते आया है।" अध्यापक भी उसी के समान अपने जीवन में एक समय, 'यश का सौरभ बिखेरता था'। वह भी स्वर्ग से आया है। अतः अध्यापक भी बालक की भाँति दैवी या आध्यात्मिक- सृष्टि की इकाई है। उसमें भी दैवी अंश है। अतएव बालक एक अध्यापक, दोनों में एक पूर्व निश्चित संबंध है और दोनों का

जीवन लक्ष्य समान।

अध्यापक, बालक के लिए एक विशिष्ट वातावरण है। वह बालक के समक्ष सुन्दर आचरण के आदर्श उपस्थित करता है, बालक का पथ-प्रदर्शन करता है, और यदाकदा उसपर नियंत्रण भी रखता है। इस प्रकार बालक के आत्म-ज्ञान प्राप्ति के हेतु अपने को आदर्श व्यक्ति के रूप में उपस्थित कर उसके वातावरण को सत्यम्, शिवम् तथा सुन्दरम् की अनुभूति के योग्य बनाता है।

फ्रावेल के आंग्ल-भाषीय शब्द 'किंडर गार्टन' की व्याख्या में हमें अध्यापक एवं बालक के संबंध का पर्याप्त स्पष्टीकरण हो जाता है। उसके अनुसार पाठशाला एक सुंदर उपवन, बालक एक कोमल 'बिरवा' और अध्यापक सावधान माली है। वह एक चतुर माली की भाँति मानव बिरवे की उचित देखभाल करता है। उसे सिंचित करता तथा विषैले कीड़ों एवं जानवरों से बचाता है। इतना ही नहीं उसको काट-छाँट कर सुंदर बनाता है। पौधा माली के अभाव में भी अपनी प्रकृति के अनुसार बढ़ सकता है तथा वृक्ष में परिणत हो सकता है; क्योंकि उसके मूल में एक प्राकृतिक शक्ति निहित है। परन्तु उपरोक्त दोनों पौधों के अन्तिम परिणित रूप में मुख्य अंतर यह है कि चतुर माली द्वारा सिंचित एवं सुव्यवस्थित पौधा अधिक सुंदर, आकर्षक एवं उपादेय होगा। अतः अध्यापक का कार्य एक चतुर माली का है। यद्यपि बालक प्राकृतिक नियमानुसार स्वयं विकसित होता है; किंतु अध्यापक की सहायता से उसका विकास शीघ्र, सुंदर तथा ग्राह्य होगा। निःसंदेह अध्यापक की सहायता से वह विकास के उस स्तर पर पहुँच जायगा जिसे अन्यथा वह प्राप्त नहीं कर सकता।

आदर्शवाद तथा पाठ्यक्रमः–आदर्शवादी की दृष्टिमें विचार तथा जीवन-आदर्श निश्चित एवं यथार्थ हैं। बालक विचारों के वातावरण में जन्म लेता, उसी में बढ़ता और अनुभव प्राप्त करता है। अस्तु, विचार

उसकी शिक्षा हेतु आवश्यक है, और यही पाठ्य-क्रम के मूलाधार हैं। प्रमुख आदर्शवादी प्लेटो ने अपनी शिक्षा-योजना में उन विषयों को विशेष स्थान दिया है जिनमें विचारों का ही प्राधान्य है। उदाहरणार्थ अंकगणित, रेखागणित, खगोल-विद्या,* संगीत तथा वाद्य-विद्या ÷ एवं तत्वज्ञान आदि आत्म-ज्ञान-प्राप्ति के लिए अनिवार्य विषय हैं। जिमनास्टिक तथा नृत्य आदि के आधार पर अथवा उनके द्वारा सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की अनुभूति संभव नहीं। अभिप्राय यह है कि विचारों को महत्व देने वाला आदर्शवादी वास्तविक ज्ञान देने वाले विषयों की अवहेलना करता है और आधुनिक विज्ञान को भी हेय समझता है, क्यों कि ये विषय भौतिक-शक्ति एवं ज्ञान-वर्धन में ही सहायक होते हैं न कि आत्म-शक्ति की प्राप्ति में।

मानव जाति के आध्यात्मिकसंचय में ही जीवन-आदर्श का स्रोत निहित है। ये आध्यात्मिक संचय एक प्रकार की अनुभूतियाँ हैं; जिनको मानव निरंतर संचरित करता आ रहा है। धर्म, नैतिकता, साहित्य एवं कला, विज्ञान तथा गणित आदि इन अनुभूतियों की देन हैं। इन्हीं से प्रेरित होकर मानव, नैतिक, धार्मिक, बौद्धिक एवं सौन्दर्यात्मक क्रियाओं में प्रवृत्त होता है। अत: ये विषय आदर्शवादी के हेतु अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं और इन्हीं को पाठ्यक्रम का मेरुदंड होना चाहिये।

सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् की अनुभूति अथवा आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के हेतु जीवन-रक्षा एवं स्वस्थ शरीर आवश्यक है। स्वास्थ्य रक्षा के लिये खेल-कूद, व्यायाम एवं जीवन-रक्षा के हेतु भूगोल, अर्थ शास्त्र एवं विज्ञान आदि उपयोगी हैं। अत: आदर्शवादी दृष्टिकोण से भी एक पूर्ण शिक्षा-योजना में खेल-कूद, व्यायाम, भूगोल, अर्थशास्त्र, गणित और विज्ञान, साहित्य एवं कला, इतिहास, नैतिकता एवं धर्म इत्यादि का

* Astronomy ÷ Harmonics

पाठ्यक्रम में मुख्य स्थान है। खेल-कूद, व्यायाम, भूगोल तथा विज्ञान आदि मनुष्य के भौतिक जीवन संबंधी विषय हैं जो आध्यात्मिक ज्ञान-प्राप्ति के भी साधन हैं। अतः मानव जीवन में इनका पर्याप्त महत्व है।

आदर्शवाद विनय एवं बालक:—आदर्शवादी विनय को वांछनीय मानते हैं। विनय केवल ज्ञानार्जन का साधन ही नहीं वरन् इसका लक्ष्य भी है। विनय ही के द्वारा मानव अपने जीवन-आदर्श को प्राप्त करता है। अतः आदर्शवादी बालक में प्रत्येक अवस्था में विनय की विद्यमानता पर जोर देते हैं। बालक शिक्षालय में हो अथवा उसके बाहर, घर या समाज के वातावरण में, कहीं भी विचरण कर रहा हो, उसमें स्व-शासन, आचरण एवं संयम का होना सर्वथा वांछनीय है। इसकी अवहेलना में वह जीवन के उच्च आदर्शों की प्राप्ति में असफल रहेगा।

"विद्या ददाति विनयम्।" विद्या ही विनय की जन्म दायिनी है। इन दोनों में अनन्योनाश्रित संबंध है। आदर्शवादी की दृष्टिकोण में एक के अभाव में दूसरा अपूर्ण है। अतएव वे शिक्षालय में बालक को आचरणशील, विनयी एवं संयमी बनाना चाहते हैं। बालक में विनय से उनका अभिप्राय उसके स्व-भावों एवं इच्छाओं का दमन नहीं वरन् उसको सुंदर वातावरण, स्व-प्रभाव आदि द्वारा वांछनीय पथ की ओर प्रवृत्त कर देना है। हरबार्ट ने आंग्लीय शव्द 'Discipline' की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'Disciple' वह है जो अपने गुरु के चरणों में स्नेह, श्रद्धा, भक्ति एवं भाव से बैठे। इस प्रकार के गुरु-शिष्य संबंध हमारे सांस्कृतिक सत्साहित्य में अनेक हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम राम तथा विश्वामित्र, श्रीकृष्ण—सांदीपन आदि के गुरु-शिष्य संबंध इसी भाव की सार्थकता प्रमाणित करते हैं। इतना

ही नहीं भारतीय संस्कृति में गुरु ईश्वर तुल्य माना गया है। कबीर ने तो गुरु को ब्रह्म से भी श्रेष्ठ माना है—

"गुरु गोविंद दोउ खड़े, काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपणे, गोविंद दियो बताय॥"

विनय की उत्पत्ति दो व्यक्तियों, गुरु और शिष्य, शिक्षक और शिक्षार्थी, अध्यापक एवं बालक के पारस्परिक संबंध में निहित है। गुरु, शिक्षक अथवा अध्यापक के अभाव में न तो बालक अपनी आध्यात्मिक शक्तियों को ही विकसित कर सकता है न आत्मानुभूति ही प्राप्त कर सकता है। ऐसी अवस्था में निःसंदेह बालक विद्यार्जन के उद्देश्य की प्राप्ति नहीं कर सकता क्योंकि शिक्षक या गुरु उसका पथ प्रदर्शन करता है और स्व-व्यक्तित्व द्वारा उसके आचरण को प्रभावित करता और उसके समक्ष एक आदर्श उपस्थित करता है।

'स्वेच्छा और स्वतंत्रता' प्रकृतिवादियों का नारा है और 'विनय' आदर्शवादियों का। प्रकृतिवादी बालक को स्व-अनुभव प्राप्त करने के हेतु स्वतन्त्रता प्रदान करता है, और बालक क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा स्वयं अनुभव प्राप्त करता है। किन्तु आदर्शवादी ऐसे अनुभव के पक्ष में नहीं क्योंकि इस प्रकार के अनुभव आध्यत्मिक गुणों की प्राप्ति में कदापि सहायक नहीं। वह बालक में निहित आध्यात्मिक गुणों एवं शक्तियों को विकसित करने के लिये सदैव तत्पर है। उसकी स्वाभाविक क्रियाओं को दमन न करके उन्हें परिमार्जित करने का प्रयत्न करता है। वस्तुतः आदर्शवादी बालक की अभिरुचियों को ध्यान में रखते हुये सहानुभूति और प्रेम के आधार पर उस पर एवं उसके वातावरण पर नियंत्रण रखने का प्रयास करता है।

सारांश यह है कि आदर्शवादी दर्शन के आधार पर शिक्षा में अध्यापक द्वारा नैतिक प्रवचन, पथ-प्रदर्शन, व्यक्तिगत प्रभाव, सुआचरण के उदाहरण एवं आवश्यक नियंत्रण का होना वांछनीय है साथ ही

बालक में स्नेह, श्रद्धा, भक्ति, आज्ञापालन एवं नम्रता आदि भी आवश्यक हैं। शिक्षक एवं शिक्षार्थी के पारस्परिक संबंध एवं सम्पर्क के फल स्वरूप ही बालक विनयशील होता है।

आदर्शवाद तथा बालक—बालक ब्रह्मांड की एक इकाई है और ब्रह्म का अंश है। फ्राबेल के अनुसार "नवजात शिशु ब्रह्म में लीन है।"* वह इस सृष्टि में "गगन से सौरभ बिखेरते आया है।" अत: वह सुन्दर है उसमें कुछ दैवीशक्तियाँ एवं गुण हैं। इन शक्तियों के अनुरूप विकसित होना एवं गुणों को प्राप्त करना ही उसके जीवन का लक्ष्य है। अत: उसके विकास को अवरुद्ध करना एवं उसके गुणों का दमन करना एवं उसे प्रेम तथा सहानुभूति से वंचित रखना, ताड़ना अथवा दंड देना उसके साथ घोर अन्याय करना है।

५

शिक्षा में प्रकृतिवाद

(अ) प्रकृतिवाद–अनेक प्रकार–भौतिकवाद, गतिवाद, प्रत्यक्ष-वाद, रसायन एवं जीव-विज्ञानवादी प्रकृतिवाद—प्रकृतिवाद की वर्जनायें–पारलौकिकता, इच्छा–स्वातंत्र्य, जप-तप आदि में अविश्वास; इसके नियम में कारण-कार्य शृंखला—शिक्षा में तीन प्रकृतिवादी विचार धारायें; इनमें जीव-शास्त्रीय प्रकृतिवाद महत्वपूर्ण।

(ब) शिक्षा में प्रकृतिवाद—ऐतिहासिक पर्यवेक्षण–बेकन और प्रकृतिवादी विचार–कामीनस की स्वाभाविक शिक्षा—रूसो प्रकृति-वाद का पैगम्बर—हरबर्टस्पेंसर प्रमुख प्रकृतिवादी–मैकडूगल टी. पी. नन, हक्सले, बरनार्डशा तथा ए. एस. नेल आधुनिक प्रकृतिवादी–प्रकृतिवादी विचारधारा का सूत्रपात शिक्षा में वाह्य-नियम भार तथा रूढ़िवादी स्थिति के विरोध में।

(स) प्रकृतिवाद तथा शिक्षा-उद्देश्य, बालक, अध्यापक, पाठ्य-क्रम, शिक्षण पद्धति, विनय तथा सह-शिक्षा।

प्रकृतिवादः—दर्शन शास्त्र में 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग, विश्व के सम्पूर्ण 'घटना-चक्रों'* के शृंखलाबद्ध एवं अनन्योनाश्रित संबंध के अर्थ में हुआ है। स्थिर नियमों के आधार पर संचालित ब्रह्मांड को ही हम प्रकृति कहते हैं। प्रकृतिवाद वह दर्शन है, जो प्रकृति को उन्हीं अर्थों में समझाता है। उसके लिये यथार्थ× प्रकृति में ही निहित है। यह 'प्रकृति' से बाहर किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं मानता। जो कुछ है 'प्रकृति' है। उसका विश्वास न तो दैवी शक्तियों में है और न वह

* Phenomena. × Reality.

पारलौकिकता को ही मानता है। अतः आकस्मिक घटनाओं को मान्यता नहीं देता है।

प्रकृतिवाद का कोई एक स्वरूप नहीं है। यह अनेक प्रकार का है:—

(अ) प्रत्येक वस्तु को यदि गतिशील पदार्थों की क्रिया मान लें और पदार्थ को अणु-संगठित समझें तो प्रकृतिवाद को भौतिकवाद या पदार्थवाद† कहते हैं।

(ब) यदि यह मान लिया जाय कि पदार्थ स्वयं शक्ति का संचित स्वरूप है, (आधुनिक काल में यह भौतिक विज्ञान का सर्वमान्य सिद्धान्त हो गया है कि पदार्थ एवं शक्ति* दो विभिन्न वस्तुयें नहीं हैं बल्कि पदार्थ, शक्ति का ही ठोस रूप है) और प्रत्येक पदार्थ को शक्ति में पारिवर्तित किया जा सकता है; तो इस प्रकार के प्रकृतिवाद को 'शक्तिवाद अथवा गतिवाद' ॥ कहना उचित है।

(स) प्रत्येक 'वस्तु' या 'घटना' अन्य वस्तुओं से किसी कारण विशेष द्वारा सम्बन्धित रहती है और जब हम प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व में कारण-कार्य शृङ्खला मानते हैं और इनका निरीक्षण वास्तविक ज्ञान द्वारा करते हैं तो ऐसे ज्ञान को प्रत्यक्षवाद + कहते हैं।

(द) इस प्रकार प्रकृतिवाद शक्ति, गति, प्राकृतिक नियमों एवं कारण-कार्य पर बल देता है तथा भौतिक एवं रसायन-विज्ञान को भी महत्वपूर्ण मानता है। प्रकृतिवादियों का विश्वास है कि पदार्थ, जीवन एवं मन-जगत का स्पष्टीकरण, रसायन एवं भौतिक विज्ञानों द्वारा हो सकता है।

(य) प्रकृतिवाद ने जब से शरीर एवं मन को विकास के विभिन्न क्रम मान लिया है और इस तरह जीव-विज्ञान तथा मनोविज्ञान के महत्ता को स्वीकार कर लिया है, यह अत्यधिक व्यापक बन गया है।

---

† Materialism. * Matter and Energy.

॥ Energyism or Dynamism + Positivism.

विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार वनस्पति तथा जीव, दोनों प्राकृतिक एवं स्वाभाविक नियमों के अनुसार एक अपने साधारण स्तर से विकसित हुए हैं; अर्थात् आजकल जो भी स्वरूप हमें किसी भी जीव अथवा वनस्पति में दृष्टिगोचर होता है वह आकस्मिक नहीं है, न तो प्रारम्भ में ही ऐसा था, बल्कि यह एक उन्नत स्वरूप है। प्राकृतिक नियमों के अनुसार जीव मात्र निरन्तर अपने को वातावरण के अनुसार ढालते रहते हैं और स्वभावत: उसके अनुकूल अपने को बना लेते हैं।

प्रकृतिवाद की कुछ वर्जनायें भी हैं। वह पारलौकिकता, ईश्वर, अमरत्व अथवा मृत्योपरान्त किसी प्रकार के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता। अत: पूजा-पाठ, जप-तप एवं ईश-गुणगान आदि उसके लिए केवल ढकोसला मात्र हैं; क्योंकि प्रकृतिवाद 'वस्तुजगत' के अतिरिक्त किसी अन्य अस्तित्व को नहीं मानता।

इस दर्शन के अनुसार 'इच्छा-स्वातंत्र्य'* नामक कोई वस्तु नहीं, क्योंकि वह प्रत्येक घटना में किसी न किसी कारण की स्थिति मानता है। इसका कहना है कि प्रत्येक जीव अपने को सुरक्षित रखने का यथाशक्ति प्रयत्न करता है। जीव में अपने को सुरक्षित रखने की स्वाभाविक प्रेरणा होती है। इसी प्रेरणा के फलस्वरूप वह अपने को सुरक्षित रखने के लिये सतत् प्रयत्नशील रहता है। यही उसके जीवन का सार है। इसी प्रेरणा का आवर्तन ही वृत्ति का रूप धारण कर लेता है। यही वृत्ति, उस व्यक्ति या समुदाय को जीवित रखने का प्रकृति प्रदत्त सम्बल है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'जीवित रहने की' या 'सुरक्षा' की आवश्यकता 'वृत्तियों' को जन्म देती या निश्चित करती है। इन्हीं वृत्तियों के आधार पर इच्छाओं का प्रादुर्भाव होता है इच्छायें, विचार को निश्चित करती हैं तथा ये ही विचार अंत में क्रियाओं का रूप ले लेते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'इच्छा-

* Freedom of will

स्वातंत्र्य' का हमारी विचार-शृङ्खला या क्रियाओं में कोई स्थान ही नहीं। सत्य तो यह है कि मन को किसी कारण-विशेष से विचार-शक्ति प्राप्त होती है; और वह कारण स्वयं किसी अन्य पर आधारित रहता है। इस प्रकार कारण-कार्य शृङ्खला बँध जाती है और यही प्रक्रिया चिरन्तन चलती रहती है।

अस्तु हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानवीय क्रियायें नियमों से आबद्ध हैं, जो गणित अथवा ज्यामिति के नियमों की भाँति निश्चित हैं। अतः इन क्रियाओं को अच्छी तरह समझने के लिए आत्मगत विचारों को त्याग कर गणित अथवा ज्यामिति के समान निश्चित नियमों का आश्रय लेना ही उचित है।

प्रकृतिवादी तीन प्रमुख विचारधारायें शिक्षा को कम या अधिक मात्रा में प्रभावित करती हैं* :—

(१) **भौतिकविज्ञान का प्रकृतिवाद,** प्रकृति के बाह्य स्वरूप को ही अपना केन्द्रविन्दु मानता है। अतः यह मनुष्य के विषय में मौन है। फलस्वरूप इस विचारधारा का शिक्षा जगत में कोई देन नहीं।

(२) **यन्त्रवाद, प्रकृतिवाद** का दूसरा रूप है। इसके अनुसार मानव एक ऐसा यन्त्र है जो स्व-निर्माता, स्व-संचालक, स्वयं-सुधारक तथा अपनी उत्पत्ति के लिये स्व-क्षम है। वह स्वयं कार्य करता है और आवश्यकतानुसार अपने को ठीक भी करता है।

मानव अथवा मानव जाति के प्रत्येक कार्य किसी कारण विशेष के फलस्वरूप हुआ करते हैं। यह कारण किसी अन्य कारण से उद्भूत होता है। इस प्रकार एक कारण-कार्य की शृङ्खला बँध जाती है। अतएव मानव के प्रत्येक कार्य को हम ज्यामिति की भाँति अध्ययन

---

*Ross–Ground work of Educational Theory. P.86.

कर सकते हैं। मानव सम्बन्धी इस दृष्टिकोण ने शिक्षा में, 'व्यवहारिक-मनोविज्ञान' को जन्म दिया है।

(३) **जीव-शास्त्रीय प्रकृतिवाद** मनुष्य को विकास प्रक्रिया का सर्वोच्च देन मानता है। उसके अनुसार मानव अपनी प्रारंभिक अवस्था में वैसा नहीं था जैसा हम उसे आज पाते हैं। वह अपनी आदि अवस्था से अनवरत् विकास करता हुआ आज की दशा को प्राप्त हुआ है। अतः प्रकृतिवादी यह विचारधारा, मानव को भली-भाँति समझने तथा उसके सम्यक विवेचन के लिए मानव जाति के अतीत को समझना आवश्यक मानती है। मानव के वे स्वभाव, जिन्हें मनुष्य ने मानव-विकास-क्रम में मानव से पूर्व के प्राणियों से प्राप्त किया है, महत्वपूर्ण हैं। विकासवादी दृष्टिकोण से वास्तविक मानव वही है जो प्रकृति और शरीर से शेष प्राणियों के समान है। तात्पर्य यह है कि मानव अपने वास्तविक स्वरूप तथा प्रकृति में अन्य प्राणियों के ही तुल्य है, अन्तर केवल विकास के कारण ही उसे प्राप्त हुआ है। अतएव मानव की मूल-प्रवृत्तियाँ, उसके प्रारंभिक संवेग तथा तात्विक आवश्यकतायें ही उसके जीवन-संचालन के मूलाधार हैं। निस्सन्देह उसकी नितान्त जीवन-क्रियायें मानव के पाशविक संवेगों तथा वृत्तियों से सम्बद्ध रहती हैं। अस्तु, प्रकृतिवादी दृष्टिकोण से ये ही मानव-अध्ययन के मूलाधार हैं, न कि उसके समाज-प्रदत्त अनुभूति तथा विचार।

शिक्षा में प्रकृतिवाद का ऐतिहासिक पर्यवेक्षण करते हुये राबर्ट आर. आर. रस्क ने कहा है कि "प्रकृतिवाद एक अर्वाचीन विचार-धारा है—यह प्राचीन नहीं। सर्वप्रथम बेकन ने प्रकृति को नया महत्व प्रदान कर प्रकृतिवादी विचारों का प्रादुर्भाव आधुनिक दर्शन में

किया।"* उससे प्रभावित होकर सत्रहवीं शताब्दी के 'इन्द्रिय ज्ञानवादियों' × ने विचार-जगत में इसे प्रकृतिवादी आन्दोलन का रूप दिया, जिसे सेमुअल बटलर तथा बरनार्ड शा ने बल प्रदान किया। इन प्रमुख प्रकृतिवादियों ने जप-तप, आध्यात्मिक चेतना, नैतिक प्रवृत्ति, पारलौकिक सत्ताओं तथा इच्छा-स्वातंत्र्य आदि को काल्पनिक घोषित किया।

मध्ययुगीन यूरोपीय मस्तिष्क में विद्वतवादी विचारधारायें प्रवेश पा चुकी थीं। तत्कालीन-सिद्धान्त, धार्मिक हठवादिता तथा रूढ़िवादिता ने प्रत्येक व्यक्ति के दृष्टिकोण को अत्यन्त संकुचित और जड़वादी बना दिया था। ऐसी अवस्था में बेकन ऐसे विचारक की मानसिक चेतना विह्वल हो उठी और वह चिल्ला उठा "दर्शन-गुणरहित दर्शन को तिजोरी को समर्पित कर दो। प्राचीन सिद्धान्त तथा अनुमानों को निर्मूल समझो और दर्शन को एक नवीन रूप प्रदान करो।" अस्तु, उसने सत्य की खोज के हेतु निगमन-पद्धति ⊆ द्वारा सामान्यीकरण + तक पहुँचने की एक नई प्रणाली को जन्म दिया। इस प्रणाली का कुछ विचारकों पर स्पष्ट प्रभाव पड़ा। लॉक ने तो इसी से प्रेरित होकर अनुभव प्रधान-मनोविज्ञान ⊆ का प्रतिपादन

---

* "Naturalism is the characteristic of the modern rather than of ancient thought. Bacon gave to nature a new significance and may be credited with introducing Naturalism into modern philosophy." Philosophical Bases of Education. P. 34. × Sense-Realists.

⊆ Inductive method. + Generalisation. ÷ Emperical Psychology.

किया जो धर्म और तत्वज्ञान से रहित प्रत्यक्ष निरीक्षण पर आधारित था। वेकन ने मानव-व्यवहार के पीछे निहित कारण-कार्य शृङ्खला पर बल दिया और स्पष्ट शब्दों में घोषित किया कि 'मानव अथवा जगत में कोई परिवर्तन, घटना अथवा कार्य अकारण नहीं होता; तथा मध्यकालीन विद्वत्वर्ग-सिद्धान्त तथा इच्छा-स्वातंत्र्य पूर्णत: मिथ्या हैं। प्रत्येक घटना-चक्र अथवा मानव कार्य का वैज्ञानिक अध्ययन ही किसी सत्य के निरूपण में सहायक होगा। ऐसे ही विचार के फलस्वरूप शिक्षा-जगत में 'व्यवहारवादी-मनोविज्ञान' * का प्रादुर्भाव हुआ।

वेकन का समकालीन तथा उसका शिष्य जानकामीनस ने प्राकृतिक और स्वाभाविक शिक्षा पर बल दिया और कहा 'शब्द के पूर्व वस्तु' तथा 'नियम के पूर्व उदाहरण' का ज्ञान अपेक्षित है; और 'मातृभाषा का पढ़ाया जाना बिदेशी भाषा के पूर्व ही आवश्यक है।'

प्रकृतिवाद के विकास का अधिकतर श्रेय रूसो × को है। अन्य प्रकृतिवादियों ने तो उसे इस मत का पैगम्बर कहा है। निस्सन्देह रूसो एक नये युग का प्रवर्तक था। यदि वह न होता तो नैपोलियन के शब्दों में "फ्रांस की महान् क्रांति घटित ही न होती।" यह भी कहा जा सकता है कि मानवता बालक के रूप में सम्भवत: अब तक दलित रहती। 'प्रकृति की ओर भाग चलो' क्यों कि 'मानव को नगर निगलते जा रहे हैं', का नारा लगाकर उसने मानसिक जगत में एक ऐसी क्रांति उपस्थित की, कि उसके सिद्धान्तों ने राजसत्ता, धर्म एवं सामाजिक जीवन में एक महान् परिवर्तन ला दिया। इतना ही नहीं एक नव साहित्यिक आन्दोलन को प्रेरित किया तथा शिक्षा को नव पथ प्रदान किया।

---

* Behaviourist Psychology.

× विशेष विवरण के लिए देखिए—रूसो अ० ६

हरबर्ट स्पेन्सर एक प्रमुख प्रकृतिवादी है और उसकी रचना "आन एडूकेशन" प्रकृतिवादी दृष्टिकोण का पूर्ण परिचायक है। उसने अपने पाठ्यक्रम में उन्हीं विषयों को प्राथमिकता दी है जो जीवन की सुरक्षा में सहायक हैं। इस दृष्टिकोण से विज्ञान प्रमुख है। स्पेन्सर का कथन है कि विज्ञान का अध्ययन केवल भौतिक शिक्षा ही नहीं प्रदान करता वरन् नैतिकता के लिए भी सर्वोत्तम है। वह विकासवादी सिद्धान्त का पूर्ण परिपोषक है और शिक्षा के सिद्धान्त के सम्बन्ध में स्पष्ट कहता है कि "बालक की शिक्षा की विधि एवं व्यवस्था मानव जाति के ऐतिहासिक आधार पर ही निर्भर होनी चाहिए। = अथवा "जातिगत ज्ञान-स्रोत के अनुरूप ही व्यक्तिगत ज्ञान का अभिधान अपेक्षित है।" *

मैकडूगल का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त प्रकृतिवाद पर ही आधारित है। टी० पी० नन के प्रकृतिवादी सिद्धान्तों का तो शिक्षा पर अधिक प्रभाव पड़ा है। उसकी रचना 'एडूकेशन–इट्स डाटा एण्ड फर्स्ट प्रिंसिपुल्स' प्रकृतिवादी दृष्टकोण की विशद एवं सुबोध रचना है जिसमें लेखक शिक्षा की मीमांसा वैज्ञानिक अथवा जीव-सम्बन्धी दृष्टिकोण से करता है। वह जीवन को मूल-वृत्तियों के क्रमशः अनावृत्तीकरण की प्रक्रिया मानता है और शिक्षा का उद्देश्य 'व्यक्ति का पूर्ण विकास' का प्रतिपादन करता है। हक्सले, तथा बरनार्डशा आधुनिक काल के प्रकृतिवादी विचारक हैं।

= "The education of the child must accord both in mode and arrangement with the education of mankind considered historically."

* "The genisis of knowledge in the individual must follow the same course as the genisis of knowledge in the race."

ए० एस० नेल की रचनायें पूर्णतः प्रकृतिवादी सिद्धान्तों पर आधारित हैं। अपनी पुस्तक "दैट ड्रेडफुल स्कूल' में 'समर हिल' नामक कल्पित विद्यारूप की चर्चा करते हुए लिखा है कि इस विद्यालय में बालक चैन की बंशी बजाते हैं क्योंकि इसका निर्माण बालक की इच्छाओं की पूर्ति को दृष्टिकोण में रखते हुए किया गया है।

प्रकृतिवादी विचारधारा के ऐतिहासिक पर्यवेक्षण से स्पष्ट है कि अठारहवीं शताब्दी में शिक्षा में प्रचलित आडम्बर, वाह्यनियम-भार, रूढ़िवादी स्थिति तथा अस्वाभाविक पद्धति के विरोध में प्रकृतिवादी विचारधारा का सूत्रपात हुआ। पाठशाला की कृत्रिमता एवं उसके प्रभुत्ववादी वातावरण ने बालकों के जीवन को अवसादमय तथा कामीनस के शब्दों में "विद्यालय को मन का हत्यागृह बना दिया था"। अतः रूसो ने 'पुस्तकों को उठा फेंको विद्यालय के कृत्रिम जीवन को त्याग दो' का नारा इतने ऊंचे स्वर में लगाया कि उसकी प्रतिध्वनि आज भी हमें संसार के प्रायः सभी विद्यालयों में सुनाई दे रही है और शिक्षा के प्रायः प्रत्येक अंग को प्रभावित कर रही है जिसका विवेचन विस्तृत रूप में निम्नांकित प्रकार से किया जा सकता है।

प्रकृतिवाद तथा शिक्षा के उद्देश्यः—प्रकृतिवाद में शिक्षा के उद्देश्य का निर्धारण अनेक दृष्टिकोण से किया गया है। यंत्रवादी प्रकृतिवाद के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मानवीय यंत्र को सुन्दरतम् बनाना है। जीव शास्त्रीय-प्रकृतिवाद ने मनुष्य के वर्तमान एवं भावी आनन्द तथा सुख को ही शिक्षा का लक्ष्य निर्धारित किया है। किन्तु मैकडूगल इस दृष्टिकोण का पूर्ण समर्थक नहीं। उसके अनुसार शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य स्वाभाविक प्रवृत्तियों को समुचित दिशा में मोड़ना तथा उनका उन्नयन करना है। कुछ शिक्षा शास्त्रियों ने 'जीवन संघर्ष के लिए मनुष्य को तैयार करना ही शिक्षा का लक्ष्य माना है'। लेमार्क के परवर्ती अनुयायियों ने मनुष्य के अपने वातावरण के अनुकूल

बनने की क्षमता को ही वास्तविक शिक्षा उद्देश्य स्वीकार किया है। बरनार्डशा के अनुसार शिक्षा का कार्य मानवीय विकास की गति को इस प्रकार तीव्र करना है कि जातीय उन्नति शीघ्रातिशीघ्र हो सके। रूसो ने बालक की प्रकृति के अनुसार इसका सम्यक विकास ही शिक्षा का लक्ष्य स्वीकार किया है। टी० पी० नन जो निस्सन्देह शिक्षा-लक्ष्य के दृष्टिकोण से प्रकृतिवादी की अपेक्षा आदर्शवादी अधिक हैं, व्यक्ति के अनियंत्रित विकास को ही शिक्षा का उद्देश्य मानता है। तात्पर्य यह है कि प्रकृतिवादी विचारकों के अनुसार शिक्षा भावी जीवन की तैयारी के लिए नहीं, वरन् स्वयं एक जीवन-प्रक्रिया है, जिसमें इसका उद्देश्य, साधन एवं उसकी क्रियायें निहित हैं। अतः शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का उसके स्वभाव के आधार पर प्राकृतिक ढंग से विकास करना ही है।

प्रकृतिवाद तथा बालक:—प्रकृतिवादियों की दृष्टि में "शिशु, पूर्ण नग्न एवम् विस्मृति की अवस्था में नहीं है; वह तो अपने साथ यश का सौरभ बिखेरता हुआ स्वर्ग से आता है।" रूसो ने 'एमील' में कहा है कि "ईश्वर ने प्रत्येक वस्तु को सुन्दर बनाया है; जो कुछ संसार में है, वह सुन्दर है। शिशु के पास जो कुछ भी है, वह प्राकृतिक एवं ईश्वरीय है। अतएव शिशु भी निस्सन्देह स्वभावतः सुन्दर है।" उसकी मूलप्रवृत्तियाँ तथा इन्द्रियाँ पवित्र एवम् भली हैं। अतः उन्हें कुन्ठित करना, प्रकृतिवादी सिद्धान्त के अनुसार उचित नहीं। प्रकृतिवादी सिद्धान्त का प्रतिपादक रूसो बालक की प्रकृति का सम्मान करता है, क्योंकि यह प्राकृतिक नियमों के अनुसार विकसित होती है। इसीलिये वह कहता है कि "अध्यापक का यह कर्तव्य है कि वह उन प्राकृतिक नियमों को जाने और उन नियमों में अव्यवस्था न पैदा करे, अपितु उन्हें 'सक्रिय' करता रहे। शिशु जो कुछ भी करना

चाहता है, वह अपनी मौलिक-आवश्यकताओं* की पूर्ति के लिए ही करता है।" अतः अध्यापक को बालक की मौलिक अवश्यकताओं को कुन्ठित नहीं करना चाहिए; वरन् उसे उनकी एक तालिका बना लेनी चाहिए ताकि वे पूरी हो सकें।

प्रकृतिवादियों के लिये शिशु एक "छोटा मानव" नहीं अपितु 'मानवोन्मुख प्राणी' है। अर्थात् ऐसा प्राणी है जिसे अभी पूर्ण मानव बनना है और वह उस ओर अविराम बढ़ रहा है। अतएव बालक की प्रकृति गतिशील एवं वृद्धिशील है। यह सतत् विकसित होती रहती है। इस विकास की प्रत्येक अवस्था की अपनी विशेषतायें होती हैं। विकास की इन विभिन्न अवस्थाओं—शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था अथवा प्रौढ़ावस्था आदि—का भली-भांति अध्ययन करना अध्यापक के लिये आवश्यक है।

आधुनिक प्रकृतिवादी, जो स्वयं रूसो से भी अधिक प्रगतिशील हैं, शिशु के अनिश्चित भविष्य की अपेक्षा उसके वर्तमान को अधिक महत्व देते हैं। 'शिशु क्या बनेगा' की अपेक्षा 'शिशु क्या है' उनके अन्वेषण का मुख्य विषय है। उनकी दृष्टि में शिक्षा का सम्बन्ध, शिशु के वर्तमान से अधिक है; किसी सुदूर भविष्य अथवा उसके प्रौढ़ावस्था से नहीं। उनके अनुसार शिक्षा जीवन की तैयारी नहीं, वरन् स्वयं जीवन है।

प्रकृतिवादी दृष्टिकोण में शिशु शिक्षा-प्रक्रिया का प्रधान घटक है। यह अध्यापक के लिये एक पुस्तक है जिसका गूढ़ अध्ययन ही अध्यापक का मुख्य कार्य है। इस दृष्टिकोण से बालक को शिक्षा जगत में एक नयी मान्यता मिली है जिसके फलस्वरूप 'शिशु-केन्द्रित-शिक्षावाद' ने एक नवीन शिक्षा प्रणाली को जन्म दिया है। सर जान ऐडम्स का कथन है कि "शिक्षा की सम्पूर्ण नवीन प्रवृत्तियाँ शिशु-केन्द्रित हैं।

* Urges.

मान्तेसरीवाद ने शिक्षा जगत से प्रयोगसामग्री* के अतिरिक्त और सब कुछ हटा दिया है; डाल्टन-योजना में अध्यापक अलग हट जाता है और बच्चों को उनके इच्छानुसार कार्य करने के लिए छोड़ देता है; बुद्धि-परीक्षणों ने शिशु को अत्यधिक प्रमुखता प्रदान की है; गैरी-योजना के अनुसार पाठशाला का निर्माण और उसकी सजावट बच्चे की आवश्यकताओं के अनुरूप होती है, प्राजेक्ट-प्रणाली तो शिशु-आधारित दृष्टिकोण के प्रति पूर्ण समर्पण ही है और क्रीड़ा-प्रणाली तो बच्चे की माँग पर ही आधारित है।" ×

प्रगतिशील प्रकृतिवादी आज पाठशाला की सम्पूर्ण व्यवस्था को शिशु की व्यक्तिगत आवश्यकताओं एवं रुचियों के अनुसार प्रस्तुत करने के लिए तैयार है। क्योंकि उसकी दृष्टि में शिशुत्व की आवश्यकतायें ही प्रधान नहीं वरन् प्रत्येक शिशु की व्यक्तिगत रुचि एवं आवश्यकतायें अधिक महत्व की हैं।

शिक्षा में प्रकृतिवाद का उपर्युक्त आन्दोलन शिशु के लिये पूर्ण अधिकार की उद्घोषणा करता है और 'सामाजिक शक्तियों के' लिए, शिक्षा में व्यक्तिगत स्वतंत्रता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है और सरकार के लिए हाथ खींचो की नीति निर्धारित करता है। यदि हम इस सिद्धान्त को विवेचना करें तो स्पष्ट रूप से विदित होगा कि इसके प्रयोग स्वरूप बलवान और योग्य को और भी अधिक बलवान तथा योग्य बनने का अवसर मिलेगा और प्राकृतिक चयन तथा योग्यतम ही जी सकता है के सिद्धान्त को बल मिलेगा'।†

प्रकृतिवाद तथा अध्यापकः—प्रकृतिवादी शिक्षा पद्धति में अध्यापक को बालकों की क्रियाओं में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता

* Apparatus. × Sir John-Adams. Modern Developments in Educational Practice. P. 14–15.

† J. S. Bru Bacher Modern philosophies of Education. P. 3o7.

न उसके विकास को अपने व्यक्तित्व से प्रभावित ही कर सकता है। निस्सन्देह इस पद्धति में अध्यापक की परम्परागत-स्थिति समाप्त हो जाती है। वह शिक्षामंच से बाहर हटा दिया जाता है और उसे विवश होकर पर्दे के पीछे हो जाना पड़ता है। उसकी जगह पर शिष्य, आकर्षण-केन्द्र बन बैठता है। अध्यापक पृष्ठ-भूमि में बैठा-बैठा बालक की क्रीड़ात्मक क्रियाओं को निहारा करता है। हाँ समय-समय पर वह मंच की व्यवस्था करता है और शिशु के पास उसकी इच्छित वस्तुओं को एकत्र कर देता है। कहने का अभिप्राय यह है कि अध्यापक बालक के प्राकृतिक विकास में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता, वरन् आवश्यकतानुसार उसके विकास हेतु उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। इस विचारधारा के अनुसार वास्तव में महत्त्व बालक का होता है अध्यापक तो केवल बालक के क्रियाओं का निरीक्षक।

प्रकृतिवाद तथा पाठ्यक्रम:—बालक में रुचि रखने वालों का नारा है "बालक स्वतन्त्र है उसे अपनी इच्छानुसार कार्य करने दो।" पाठ्यक्रम-समर्थकों की पुकार है "नियंत्रण आवश्यक है, पथ-प्रदर्शन करो।" प्रकृतिवादी बालक की स्वतंत्रता और उसके स्वेच्छापूर्वक कार्य करने में विश्वास रखता है। अतएव वह पाठ्यक्रम का विरोधी है क्योंकि पाठ्यक्रम, जाति के अर्जित ज्ञान का समवेत रूप है जिसे प्राप्त करने में बालक की स्वतंत्र-इच्छा का अपहरण होता है। इसलिए प्रकृतिवादी शिक्षण-प्रक्रिया में परम्परागत तथा रूढ़िगत पाठ्यक्रम का विरोधी है। रूसो ने प्रचलित शिक्षा-व्यवस्था के सम्पूर्ण उपकरणों को उखाड़ फेंकने के लिए कहा है और अपने शिष्य 'एमील' के लिए बारह वर्ष की अवस्था तक किसी प्रकार की निश्चित शिक्षा की व्यवस्था नहीं करता है। इस काल की शिक्षा को उसने निषेधात्मक शिक्षा की संज्ञा दी है। इस काल

में शिक्षक का कार्य बालक को शिक्षा देना नहीं, अपितु उसको शिक्षा के लिए तैयार करना है। उसके शरीर, विभिन्न अंगों, शक्तियों तथा ज्ञानेन्द्रियों को क्रियाशील रखना, उसका सम्यक संवर्द्धन करना और उसकी आत्मा को निश्चेष्ट छोड़ देना ही अध्यापक का मुख्य कार्य है। क्योंकि 'यह काल विवेचना की सुप्तावस्था है।' इस अवस्था तक बालक को इतना भी बोध नहीं होता कि पुस्तक क्या है।

कौमार्यावस्था के लिए उसने बढ़ईगीरी तथा किसानी को उत्तम कार्य बताया है और एक ही पुस्तक 'राबिंसन क्रूसो' को पढ़ने की सलाह देता है। किशोरावस्था के लिए इतिहास और धार्मिक शिक्षा से परिचित कराना आवश्यक मानता है।

हरबर्ट स्पेंसर केवल उन विषयों को उपयोगी मानता है जो आत्म-रक्षार्थ सहायक हैं। वह इतिहास, कला, भाषा आदि अन्य विषयों की अपेक्षा विज्ञान को प्राथमिकता देता है।

प्रकृतिवादियों ने शरीर तथा इन्द्रियों के विकास पर जोर दिया है। अतः पढ़ने-लिखने और जोड़ने-घटाने की महत्ता नहीं के बराबर है। गीत, नृत्य, गान, कला, दस्तकारी और 'नेचर स्टडी' पाठशाला की मुख्य क्रियायें हैं, और शारीरिक शिक्षण तथा अभ्यास को पाठ्यक्रम में विशेष स्थान है।

प्रकृतिवाद तथा शिक्षण पद्धति—प्रकृतिवादी शिक्षण पद्धति में प्रत्यक्ष अनुभूति तथा स्व-क्रिया द्वारा अनुभव-अर्जन को अधिक महत्व देते हैं। रूसो ने कहा है कि "अपने शिष्य को शाब्दिक पाठ न पढ़ाओ उसे अनुभव द्वारा ही सीखने दो......यथासंभव उसे क्रिया द्वारा शिक्षा प्रदान करो। यदि क्रिया नितान्त असम्भव हो जाय तभी शब्दों का सहारा लो...... पुस्तकीय ज्ञान यथासम्भव न्यूनतम होना चाहिए।" कामीनस ने भी शब्दों की अपेक्षा वस्तुओं पर ही अधिक जोर दिया है।

प्रकृतिवादी सिद्धान्त के अनुसार विज्ञान को खड़िया, पुस्तक तथा शब्दों के माध्यम से नहीं पढ़ाया जाना चाहिए, अपितु बालक को अनुसंधानशाला में स्वयं अपने प्रयोगों द्वारा सीखना होगा। भूगोल की शिक्षा, कक्षा में पुस्तक तथा चित्र द्वारा नहीं देनी चाहिये बल्कि यात्रा और पर्यटन भौगोलिक ज्ञान-प्राप्ति के सुन्दर माध्यम हैं। भाषा सीखने के लिए पुस्तक रटंत उपयोगी नहीं। इसे भाषा शिक्षण की प्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा सीखना सरल ही नहीं वरन् सुविधा जनक भी है। इसी प्रकार गणित, इतिहास कला आदि समस्त विषयों में क्रिया तथा क्रीड़ा को अधिक महत्व देना चाहिए।

संक्षेप में, ह्यूरिस्टिक, प्रयोगशाला तथा क्रीड़ा पद्धतियाँ प्रकृतिवादी शिक्षा में शिक्षण की प्रिय पद्धतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त; कार्य, गीत, नृत्य, संगीत, शिक्षण प्रक्रिया में महत्वपूर्ण हैं; और क्रिया द्वारा सीखना, प्राकृतिक परिणाम, पर्यटन और शिक्षा हेतु यात्राओं द्वारा अनुभव प्राप्त करना प्रकृतिवादियों की सर्वोत्तम पद्धतियाँ हैं।

प्रकृतिवाद तथा विनयः—प्रकृतिवादयों का विश्वास है कि बालक जन्म ही से 'साधु' होता है। यदि उसे भय और घृणा की दुनियाँ से बचाया गया तो वह आजन्म साधु रहेगा। अतः बालक को ताड़ना अथवा दंड द्वारा भयभीत और दुखित करना प्रकृतिवादी सिद्धान्त के विरुद्ध है। दंड से भय और भय से घृणा उत्पन्न होती है। व्यक्ति का ह्रास होता है। प्रकृति में निहित सुन्दर शक्तियाँ अविकसित रह जाती हैं। फलस्वरूप व्यक्तित्व कुंठित हो जाता है। रूसो और हरबर्ट स्पेंसर बालक को दंड के इन कुपरिणामों से बचाने के लिए, स्वेच्छापूर्वक कार्य करने के अवसर प्रदान करने के पक्ष में हैं। रूसो का कथन है "बच्चे को आज्ञा मत दो, कतई न दो। उसे यह भी आभास न होने दो कि तुम उसके ऊपर कोई अधिकार रखते हो।" * उसने यह भी

* Rousseau–'Emile.' P. 55.

कहा है कि 'बालक को दण्ड न दो, उसे अपनी अवांछनीय क्रियाओं के फलस्वरूप प्राकृतिक रूप से दण्ड मिलने दो।' हरबर्ट स्पेंसर के अनुसार भी बालक को अपनी क्रियाओं का परिणाम भोगने देना चाहिए; क्योंकि इन प्राकृतिक परिणामों द्वारा वह अनुभव प्राप्त करता है और विनयी बनता है। उदाहरणार्थ, यदि बालक अपने अल्हड़पन के कारण गिर जाता है या अपना सिर किसी मेज या कुर्सी से टकरा लेता है तो उसे चोट लगती है। इस चोट की स्मृति उसे भविष्य में अधिक सतर्क और चुस्त बना देती है।

किन्तु; इस प्रकार अनुभव अर्जन करने और विनयी बनने की कटु आलोचना भी की गई है। आलोचकों का कहना है कि यदि एक तीन वर्ष का अबोध शिशु खुले उस्तरे से खेलने और उस खेल के परिणामों को भुगतने के लिए छोड़ दिया जाय तो परिणाम भयंकर हो सकता है। वह अपना गला भी काट सकता है। इसलिए आलोचकों का यह कहना कि 'प्राकृतिक परिणाम प्रायः अपराध की अपेक्षा अधिक कठोर और मानवदण्ड की अपेक्षा कहीं अधिक अनियमित तथा उच्छृङ्खल होते हैं', सत्य ही है।

इसके अतिरिक्त उनका यह कहना, कि प्राकृतिक परिणामों द्वारा विनय सर्वदा नास्त्यात्मक होता है; कुछ करने से केवल मना ही करता एवं अच्छे कार्य को करने के लिये प्रोत्साहित नहीं करता, युक्ति संगत प्रतीत होता है।

उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी यह सिद्धान्त बच्चे के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता की उद्घोषणा करता है। उसे आत्माभिव्यक्ति का अवसर प्रदान करता है; नियंत्रण, बंधन, ताड़ना, प्रतिशोध, दण्ड, दबाव, एवं दमन से बचाता है। आत्म-विकास का अवसर देता है एवं उसे स्वेच्छापूर्वक कार्य करने का अवसर देकर पाठशाला के वातावरण में आनन्द सुख तथा हर्ष का संचार करता है।

प्रकृतिवाद तथा सह-शिक्षाः–प्रकृतिवादियों के अनुसार स्त्री-पुरुष को एक दूसरे से अलग रखना अप्राकृतिक है। लिंग भेद के अतिरिक्त दोनों अन्य बातों में समान हैं। एक दूसरे के पूरक हैं। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक अलगाव के फलस्वरूप दोनों में एक दूसरे के प्रति अस्वाभाविक काम-जन्य विचार उत्पन्न होते हैं। कृत्रिम उपायों द्वारा काम-जन्य विचारों के प्रतिरोध तथा धार्मिक एवं चारित्रिक बंधनों ने जीवन में अनेक विषमताओं को जन्म दिया है। अतएव प्रकृतिवादी काम-जन्य विचारों के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण रखने के लिये सह-शिक्षा को प्रोत्साहित करते हैं। आज, इस सिद्धान्त की पुष्टि हेतु प्रयोग भी किये जा रहे हैं। सह-शिक्षा के समर्थकों का कहना है कि स्वाभाविक काम-जन्य वृत्तियों पर यदि अस्वाभाविक प्रतिरोध न लगाया जाय तो किसी प्रकार के अवांछनीय व्यवहार की आशंका स्वतः ही दूर हो जायगी।

६

नव शिक्षा-प्रवर्त्तक : रूसो

रूसो का जीवन चरित्र—रूसो : एमील और शिक्षा-योजना, सामाजिक पृष्ठभूमि, जीवन-वृत्त का पर्यवेक्षण, पुनः स्मरण सिद्धान्त, शिक्षा के चार काल (शैशवावस्था, बाल्यावस्था, कौमार्यावस्था एवं किशोरावस्था) तथा स्त्री शिक्षा—रूसो के शिक्षा संबंधी विचार—प्राकृतिक शिक्षा से अभिप्राय—निषेधात्मक शिक्षा का स्पष्टीकरण—रूसो के शिक्षा संबंधी विचारों की प्रतिक्रिया—प्रतिक्रिया के स्थायी परिणाम ।

रूसो का जीवन-चरित्र:—जांज़ाक रूसो के विषय में वोल्तेर का कथन है कि "रूसो में सिर से पैर तक कृत्रिमता थी ।" किन्तु नैपोलियन का कहना है कि 'रूसो न रहा होता तो फ्रांस की महाक्रांति भी न हुई होती' । जेम्स के शब्दों में 'भले ही वह बहुतों के खीझने का कारण रहा हो, किन्तु, अपने समकालीन एवं परवर्ती विचारकों को सुकरात की भाँति अवश्य ही अनुप्राणित करने वाला था' ।* रूसो के सिद्धान्त ने राजनैतिक दृष्टिकोण, सामाजिक जीवन, धार्मिक भावना तत्कालीन विवाह संबंधी विचारों तथा जीवन दर्शन को परिवर्तित कर शिक्षा संबंधी आन्दोलन को एक नवीन प्रेरणा, प्रगति एवं मार्ग प्रदान किया ।

रूसो का जन्म २८ जून १७१२ ई० को जिनेवा में हुआ था । उसके पिता झक्की स्वभाव के अध्ययनशील घड़ीसाज़ थे । बालक अभागा था, क्यों कि केवल १५ दिन तक ही मातृ-प्रेम प्राप्त कर सका । छः बर्ष की अवस्था में उसने उपन्यास पढ़ना आरंभ कर दिया और इस तरह के चार वर्ष पिता के साथ बीते । अत्यधिक उपन्यास पढ़ने का फल इतना हानिप्रद हुआ कि उसने स्वयं स्वीकार किया है कि

---

*Ross: Ground work of Educational theory P.89

'चोरी करना, झूठ बोलना, आदि मैंने सीख लिया और लापरवाह, क्रोधी, असंयमी तथा पूर्णतः सिद्धान्त हीन बन गया ।'

दस वर्ष की अवस्था में वह 'बोसी' नामक ग्राम पाठशाला में व्यवस्थित शिक्षा प्राप्ति हेतु गया, और वहाँ बागवानी में इतना रुचि लेने लगा कि वह प्रकृति प्रेमी बन गया और रँगाई तथा चित्र कला सीखने लगा । तदोपरान्त वह शहर के रजिस्ट्रार के कार्यालय में कुछ समय तक कार्य करता रहा, किन्तु वहाँ भी अधिक दिनों तक न टिक सका । पुनः चित्रकारी सीखना प्रारम्भ किया । बालक भावुक था; अतएव उस वातावरण में भी मनोयोग न दे सका । अब करता क्या ? सोलह वर्ष की आयु में घर छोड़ कर निकल पड़ा और एक घुमक्कड़ आवारे का जीवन अपना लिया । संयोग से एक कैथोलिक पादरी से उसकी भेंट हुई, जिसने उसे एक उदार एवं सुन्दर युवती मदॉम् डीवारेन्स के हवाले कर दिया । युवती की सहायता से उसने भिन्न-भिन्न व्यवसायों के सीखने का प्रयत्न किया, किन्तु अपने को इन सभी कार्यों में अनुपयुक्त पाया । विवश होकर पुनः मदॉम् डीवारेन्स के पास लौट आया और उसके साथ रहने लगा । इस रमणी के साथ उसका कैसा सम्बन्ध था, कहा नहीं जा सकता । अनेक बार उसके सम्पर्क में आया और विलग हुआ । अंततः सन् १७४१ ई० में वह पेरिस पहुँचा और दरिद्र एकाकी तथा अव्यवस्थित रूसो; वोल्तेर एवं दीदरो आदि का आश्रय प्राप्त किया और किसी प्रकार कुछ कमाने की व्यवस्था कर लिया । संयोग से थेरेस लीवेसर नामक एक कुरूप, गवाँर, मूर्ख तथा अनाकर्षक स्त्री से विवाह किया । उससे पाँच बच्चे हुये । उन बच्चों को दरिद्रता के कारण शिशु-अनाथालय में छोड़ दिया जिनका फिर भविष्य में कोई पता न चला । आश्चर्य तो यह है कि ऐसे व्यक्ति ने आगे चलकर शिशु रक्षा सम्बन्धी महत्वपूर्ण शिक्षा का प्रतिपादन कैसे किया ।

सन् १७५० ई० में उसने डिजियन ऐकेडमी के लिये एक पुरस्कार लेख प्रस्तुत किया । इसका विषय था 'क्या कला और विज्ञान की उन्नति ने मानव के नैतिक शोधन अथवा पतन में सहायता प्रदान की है ?' इस लेख पर उसे पुरस्कार मिला जिसके फल स्वरूप उसे ख्याति प्राप्त हुई । 'ऐकेडमी' के द्वितीय लेख 'मनुष्यों की असमानता का कारण' में भी वह पुरस्कृत हुआ । तत्पश्चात् सन् १७६० ई० में उसका 'न्यू हिल्वाइज़' नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ । और १७६२ ई० में "सामाजिक अनुबंध' प्रकाशित हुई जो फ्रांसीसी क्रांति की बाइबिल हो गई ।

एमील की रचना इसके उपरांत हुई जो सचमुच बाल-स्वातंत्र्य का अधिकार पत्र कहा जा सकता है । पुस्तक क्रांतिकारी विचारों से पूर्ण थी । अत: प्रकाशित होते ही रूसो का जीवन संकट में पड़ गया । वह एक स्थान से दूसरे स्थान, छिपता फिरा और निराश्रित अवस्था में स्विटज़र लैंड पहुँचा किन्तु वहाँ भी अपने को सुरक्षित न पाकर वह डेविड ह्यूम के पास इग्लैंड में आकर रहने लगा और शीघ्र ही 'कान्फेसन्स' का अधिकांश भाग पूर्ण कर लिया । स्वभाव से विवश रूसो कुछ ही दिनों में ह्यूमसे भी अनबन करके १७६२ई० में फ्रांस चला आया । वहाँ एक के बाद दूसरे को अपना संरक्षक बनाता एवं उनसे झगड़ता रहा । इस तरह सचमुच उसकी दशा दयनीय हो गई । किसी तरह उसने 'कान्फेसन्स' और 'डायलॉग' को पूर्ण किया ।

२ जुलाई सन् १७७८ ई० में निष्कासित, दरीद्र और परित्यक्त मानव की भाँति उसकी मृत्यु हो गई । मृत शरीर में सूजन आ गई थी, मुखाकृति भी बिगड़ चुकी थी । चिकित्सकों को भी यह बताना असंभव हो गया कि वह स्वाभाविक मृत्यु से मरा था या आत्म-हत्या से ।

रूसो 'एमील' एवं शिक्षा योजना

सामाजिक पृष्ठ भूमि :—चौदहवें लुई का भव्य शासन एक कृत्रिम समाज छोड़कर विदा हो चुका था। इस कृत्रिम समाज में बालकों को सुगंधित पाउडर तथा शृङ्गारिक वस्तुओं से सजाया जाता था। वे गोट लगे कोट, घुटनों तक की ब्रिचेज़ तथा रेशमी मोजे पहनते थे। इतना ही नहीं एक तलवार भी उनके कमर से लटका दी जाती थी। इन कोमल बालकों की कल्पना करें कि उनका जीवन कितना कृत्रिम तथा अस्वाभाविक बना दिया गया था। साधारण सी भूल के लिए उन्हें ताड़नायें दी जाती थीं। बालक और युवा के व्यवहार में कोई विशेष अन्तर न समझा जाता था। उससे प्रौढ़ों के समान आचरण करने की आशा की जाती थी। उस काल की प्रचलित सांस्कृतिक भाषाओं—लैटिन, फ्रेंच तथा ग्रीक आदि–का ज्ञान प्राप्त करना बालक के लिए अनिवार्य था। गरीब बालक इन्हें तोते की भाँति रट लेता था। तत्कालीन धर्ममूलक भावना ने कि "मनुष्य पूर्णतया हीन है, पापी है और बालक भी जन्म से ही दूषित है;" उसके जीवन को दु:खमय बना दिया था। मानोवैज्ञानिक शक्ति सिद्धान्त* तथा उस पर आधारित शिक्षा में अनुशासन तथा अभ्यास ने बालक की स्वाभाविक स्वतन्त्रता को विद्यालय से ही नहीं छीना वरन् उसके घर से भी लूट लिया था। कक्ष मनहूस, छोटे, अंधकारपूर्ण तथा कामीनस के शब्दों में 'बालक के मन के हत्यागृह थे'। सच तो यह है कि रूसो ने मानवता को बालक के रूप में त्रसित तथा दलित पाया। अब स्वभावत: यह प्रश्न उपस्थित होता है कि रूसो ने ही क्यों बालकों को इस रूप में देखा जबकि सदियों से उनकी ऐसी ही दयनीय दशा थी? मनोविश्लेषणवादी दृष्टि से देखें तो यह स्पष्ट है कि रूसो एक साधारण सा व्यक्ति न था।

---

*Faculty Psychology.

रूसो के व्यक्तिगत जीवन-वृत्ति के पर्यवेक्षण ही में इस प्रश्न का समाधान हो जाता है। उसने अपने पाँच बच्चोंको गरीबी के कारण शिशु अनाथालय को समर्पित कर दिया था। उनका फिर कभी कोई पता न चला। निस्सन्देह यह एक अत्यन्त कठोर तथा हृदय द्रावक कार्य था जिसका आघात उसे आजीवन विचलित किये रहा। इस घटना के स्मरण से वह कभी-कभी अत्यन्त खिन्न हो उठता था और उसे आजीवन शान्ति न मिली। जन्म से ही मातृ-स्नेह से वंचित और अल्प काल तक ही पितृ-पोषित, निष्कासित, निराश्रित, अनादृत, उपेक्षित, घुमक्कड़, दरिद्र तथा हीन-व्यक्तित्व रूसो का तात्कालिक समाज का दोषान्वेषण करना नितान्त स्वाभाविक था। उसकी दृष्टि से सामाजिक भार से दबा बालक कैसे बच सकता था? वह भावुक था। उसकी आँखें समाज की त्रुटियों और विषमताओं पर ही केन्द्रित थीं। अतः बालक की इस दयनीय दशा से वह द्रवीभूत हो उठा; और प्रचलित शिक्षा-पद्धति को चुनौती दिया तथा उसे अमानवीय घोषित किया। 'इसे उखाड़ फेंको' का नारा दिया। उसके स्थान पर एक नवीन शिक्षा प्रणाली का प्रतिपादन 'एमील', 'दी न्यू हेल्वायज़', 'कन्सीडरेसंस ऑन दी गवर्नमेंट आफ पोलैंड' नामक पुस्तकों में तथा 'पोलिटिकल एकानमी' नामक निबन्ध में किया। उसके 'कान्फेसन्स' के अनुसार एमील की रचना उसके बीस वर्ष के मनन तथा तीन वर्ष के अथक परिश्रम का फल है। पुस्तक अनोखी थी। लार्ड मॉर्ले के शब्दों में 'बालकों की मुक्ति का अधिकार पत्र था।' 'एमील' के प्रकाशित होते ही रूसो की आवाज पूरे यूरोप में गूँज गई और इसने शिशु-अधिकार का मानव-अधिकार को अपेक्षा अधिक ढिंढोरा पीटा। फलतः मध्यकालीन परम्पराओं पर आधारित तात्कालिक शिक्षा-व्यवस्थायें छिन्न-भिन्न होने लगीं। रूसो ने एक नवीन शिक्षा-पद्धति की नींव डाली और तभी से सभ्य संसार बालकों के प्रति किये गये कठोर व्यवहार पर प्रायश्चित करने लगा।

प्रखर-बुद्धि, मानव तथा वस्तु के पारस्परिक भेद का ज्ञाता तो होगा, पर मानव के नैतिक सम्बन्ध से अनभिज्ञ रहेगा। अस्तु इतिहास, दर्शन, तत्वज्ञान, अथवा नीति-शास्त्र से पूर्णतः अपरिचित रहेगा।

किशोरावस्था—(१५ वर्ष से २० वर्ष तक) इस काल में बालक में काम भावना चुपके से प्रवेश करने लगती है। वह लिंग-भेद समझने लगता है तथा वास्तविक सामाजिक जीवन प्रारम्भ कर देता है। बुद्धि एवं ज्ञान के साथ सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम् उसके जीवन के व्यक्तिगत मूल्य बन जाते हैं। अब तक वह वाह्य स्थितियों से प्रभावित होता था किंतु अब उसके विपरीत उसका अंतःकरण ही वाह्य स्थिति एवं जीवन-क्रियाओं को नियंत्रित करता है, और ऐसी दशा में उसे सद्गुण प्राप्ति संभव हो जाती है।

बाल्य-काल में मानव का शरीर, इन्द्रिय तथा मस्तिष्क निर्मित होते हैं; किंतु इस काल में उसके हृदय का विकास होता है। इसके पूर्व बालक की शिक्षा स्व-प्रेम पर आधारित स्व-केन्द्रित थी, परन्तु अब वह स्व न होकर समाज केन्द्रित एवं पर-प्रेम हेतु होगी।

रूसो के कल्पित शिष्य 'एमील को अब प्राकृतिक वस्तुओं का अध्ययन न कर मनुष्य को ही अपने अध्ययन का केन्द्र-विन्दु बनाना है। अब वह यह जानने का प्रयत्न करेगा कि मानव समाज ने मानव को किस तरह पतनोन्मुखी बनाया और क्यों कर दोष उसमें प्रवेश पा गये। अतः मानव सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने हेतु एमील को इस समय इतिहास का अध्ययन करना चाहिये; क्योंकि दर्शन विरहित होते हुए भी इसकी सहायता से वह मानव हृदय की गतिविधि पहचान सकेगा'।* किंतु रूसो के अनुसार समस्त इतिहास उपयोगी नहीं। वह 'इतिहास—जो गुण के स्थान पर अवगुणों का वर्णन करता हो, जो मानव की अपेक्षा उसके कार्य-प्रदर्शन को ही महत्त्व पूर्ण समझता हो,

* Rousseau–Emile. P. 199.

जो मनुष्य के उन्हीं विशेष अवसरों का विवरण प्रस्तुत करे जब कि मानव स्व प्रदर्शन हेतु भली भाँति सुसज्जित रहा हो, और जो नित्य प्रति के वास्तविक पारिवारिक जीवन तथा व्यक्तिगत दैनिक जीवन के विषय में मौन हो और उसकी कतिपय उल्लेखनीय घटनाओं का ही चित्रण करे—सर्वथा त्याज्य एवं पूर्णतः व्यर्थ है।

धर्म सम्बन्धी शिक्षा बालक के लिये अब तक पूर्णतः स्थगित थी और एमील परमात्मा के नाम को भी न सुना था। वह आत्मा से भी अनभिज्ञ था। किसी धर्म का भी अनुयायी न था। अब उसे किसी धर्म में विश्वास करना है: किन्तु उसके चुनाव में वह स्वतन्त्र है। इस हेतु हस्तक्षेप अथवा पथ प्रदर्शन भी वांछनीय नहीं, उसकी धर्म-निष्ठा उसकी अन्तःप्रेरणा पर ही आश्रित होगी।

नीति एवं धर्म शास्त्र के अतिरिक्त रूसो अपने शिष्य एमील के लिये सौंदर्य ज्ञान एवं नैतिकता के साथ ही साथ शरीर-शिक्षा भी आवश्यक समझता है। इतना ही नहीं उसकी शिक्षा उस काल तक अधूरी रहेगी यदि वह पर्यटन एवं देशाटन द्वारा समाज सम्बन्धी अनुभव न प्राप्त करेगा।

स्त्री शिक्षाः—रूसो "एमील" के पाँचवे भाग में एमील की भावी पत्नी सोफी की शिक्षा का वर्णन करता है। सोफी की शिक्षा-विधि एमील की शिक्षा विधि से नितांत भिन्न है। सोफी की शिक्षा परम्परागत है, जब कि एमील की प्राकृतिक। पुरुष कठोर, निर्मम एवं पौरुषता का उदाहरण है; उसका जीवन क्रान्तिपूर्ण है जबकि नारी कोमलता, लावण्यता, सहृदयता एवं दया-दाक्षिण्य का प्रतीक। रूसो के अनुसार दोनों का जीवन लक्ष्य एक नहीं। स्त्री; सेवा, आज्ञा पालन तथा पुरुष की वासना तृप्ति का साधन है। अतः उसका गुण "पुरुष की दृष्टि में आकर्षक एवं प्रेम पात्र होना है; तथा उसका कर्तव्य पुरुषको बाल्यकाल में पोषित करना, प्रौढ़ावस्था में उसकी सेवा

एवं यदाकदा उसे परामर्श तथा सांत्वना देना और उसके जीवन को सुखमय एवं आनन्दपूर्ण बनाना है। अतः कौमार्यावस्था में उसे इन्हीं गुणों एवं कर्त्तव्यों की शिक्षा देनी चाहिए"। ×

स्त्री को नाचना, गाना, सीना, पिरोना, कसीदा काढ़ना एवं अन्य गृह कार्यों में निपुण होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त शरीरावयवों को सुगठित एवं शरीर को स्वस्थ बनाये रखने के लिये शारीरिक शिक्षा उपयोगी है। सुन्दर सुगठित शरीर द्वारा स्त्री, पुरुष को केवल आकर्षित ही नहीं करती वरन् सुन्दर, स्वस्थ एवं पुष्ट संतान भी उत्पन्न करेगी। उसे सामान्य शिक्षा देना अथवा दर्शन, कला तथा विज्ञान सिखाना उचित नहीं। उसके लिये धार्मिक ज्ञान ही पर्याप्त है। 'प्रत्येक कन्या को अपनी माँ का तथा प्रत्येक स्त्री को अपने पति का धर्म मानना चाहिये।' रूसो के स्त्री-पुरुष शिक्षा-विधि में पूर्ण विरोध है। एमील की शिक्षा यदि प्राकृतिक है तो सोफी की परम्परागत। एमील की शिक्षा का मूल मंत्र यदि स्वतंत्रता है तो सोफी का नियंत्रण। एमील को दृढ़, कठोर, पुष्ट विद्रोही बनने एवं पुरुषार्थ की शिक्षा दी जाती है तो सोफी को आज्ञाकारिता, मृदुता, सहृदयता एवं दया-दाक्षिण्य की।

रूसो का शिक्षा सम्बन्धी विचारः—पूर्व पृष्ठों में वर्णित रूसो की शिक्षा योजना केवल उस उच्च वर्ग के हेतु ही है जिसका जीवन अप्राकृतिक, कृत्रिम, परंपरागत एवं नितांत विलासी हो गया था तथा जो सांस्कृतिक दृष्टि से ह्रासोन्मुख था। यह योजना निम्न वर्ग के बालकों के लिये उपयोगी नहीं क्योंकि उनकी जीवन स्थिति में स्वतः ही सरलता, समानता, पवित्रता एवं अन्य सामान्य गुण वर्तमान रहते हैं।

इसके अतिरिक्त रूसो ने शिक्षा सम्बन्धी अन्य विचार अपनी पुस्तक सोशल कान्ट्रैक्ट, डिसकोर्स ऑन पोलिटिकल इकानमी, कन्सीडरेसन्स

× R..sseau—Emile. P. 328

आन दी गवर्मेन्ट आफ पोलैंड में व्यक्त किया है। वह एक पूर्ण तथा ठोस राज्य की कल्पना करता है जो सामान्यत: स्पार्टा एवं जिनेवा की भाँति छोटा परन्तु सुगठित होगा। ऐसे राज्य का सर्वप्रधान कार्य जन-शिक्षा देना होगा। प्रत्येक नागरिक को शिक्षा प्राप्त करने का मूलाधिकार है और इस दृष्टि में सभी बालक समान हैं। अत: प्रत्येक बालक की शिक्षा समरूप; खेल, गान तथा देशप्रेम-शिक्षण-विधि द्वारा सामाजिक संगठन हेतु होगी।

रूसो का प्राकृतिक शिक्षा से अभिप्राय:—रूसो ने प्राकृतिक शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में किया है। एमील में उसने कहा है कि 'प्रत्येक वस्तु जब प्रकृति की गोद से प्राप्त होती है तो सुन्दर और पवित्र होती है, परंतु मानव-सम्पर्क से वह दूषित हो जाती है।' उसी पुस्तक में दूसरे स्थल पर वह कहता है कि 'हमें तीन साधनों—प्रकृति, मनुष्य एवं वस्तु—से शिक्षा मिलती है। जब इन तीनों साधनों में पूर्ण सामंजस्य नहीं हो पाता तो शिक्षा अधूरी रहती है। इनमें से दो पर मनुष्य का पर्याप्त अधिकार होता है परन्तु तीसरे, प्रकृति अर्थात् आन्तरिक शक्ति विकास, पर कदापि नहीं'। इसी प्रकार उस पुस्तक में अनेकानेक ऐसे कथन मिलते हैं जो मूल प्रवृत्त्यात्मक निर्णय, प्रारंभिक संवेग, प्राकृतिक मूल प्रवृत्तियों, स्वाभाविक आवश्यकताओं आदि के द्योतक हैं। और इन पर आधारित ज्ञान, दूसरों के सम्पर्क से प्राप्त विचार, चेतना और अनुभव की अपेक्षा अधिक विश्वस्त होते हैं। इसीलिये रूसो केवल उसी शिक्षा का समर्थन करता है। जो मनुष्य के मौलिक स्वभाव के अनुकूल हो। उसकी दृष्टि में व्यक्ति और नागरिक एक नहीं। व्यक्ति प्राकृतिक है, नागरिक समाजकृत अत: कृत्रिम एवं अप्राकृतिक।

रूसो की दृष्टि में समाज प्रदत्त शिक्षा प्राकृतिक मानव को मानव नहीं रहने देती। उसके मौलिक स्वभाव को नष्ट कर स्वतंत्र मानव को परतंत्र बनाती है और सुख एवं आनंद को लूट लेती है। रूसो ऐसी शिक्षा

के कुप्रभाव से बचने के लिए साधु बालक को प्रकृति की गोद में पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, पेड़-पौधों के बीच भयरहित स्वतंत्रतापूर्वक विचरने का अवसर देना वांछनीय समझता है। मानव कृत समाज से दूर प्राकृतिक वातावरण में मूल प्रकृति, प्रवृत्ति, स्वभाव, इच्छा एवं मौलिक आवश्यकताओं के अनुसार विकास एवं उन्नयन को ही रूसो प्राकृतिक शिक्षा मानता है।

रूसो की निषेधात्मक शिक्षा का स्पष्टीकरण:—रूसो ने तत्कालीन विचार—कि मानव पूर्णतः तुच्छ होता है—का विरोध किया। उसने बालक को मूलतः साधु समझा। बालक के पास 'जो कुछ है'—वह निस्सन्देह सुन्दर है। अतः उसके क्रियाओं में किसी प्रकार का हस्तक्षेप अहितकर है। अतएव बारह वर्ष की अवस्था तक उसे किसी प्रकार की शिक्षा—मौखिक-शिक्षण, पुस्तकीय-ज्ञान, आदेश, निर्देशन, नैतिक-प्रवचन अथवा पथ-प्रदर्शन—देना व्यर्थ ही नहीं उसके स्वाभाविक अन्तर्निहित गुणों तथा शक्तियों के विकास को अवरुद्ध एवं कुंठित कर बालक को उस जलहीन नाले की तरह बना देना है जो अपनी स्वाभाविक गति में निर्बाध सागर बन सकता था। लिखना पढ़ना तो दूर रहा रूसो का शिष्य एमील बारह वर्ष की अवस्था तक यह भी नहीं जान सकेगा कि पुस्तक किस वस्तु का नाम है। ऐसी स्थिति में निःसन्देह परम्परा का चश्मा लगाए हुए समाज की दृष्टि में बालक अपना अमूल्य समय गँवाता हुआ सा दिखाई देगा, किन्तु ऐसी बात नहीं। रूसो तो इस काल को बालक के जीवन का अत्यधिक कार्य व्यस्त काल समझता है और स्पष्ट शब्दों में कहता है, कि बालक अपने भावी जीवन में इतना व्यस्त फिर कभी नहीं होगा। उसके लिए यह शिक्षा का नकारात्मक काल नहीं है वरन् बालक के पवित्र हृदय को समाज प्रदत्त दोषों तथा मानवकृत दूषित भावनाओं से वंचित रखने का काल है; ताकि उसका साधु हृदय साधु रह सके, और प्राकृतिक बालक

साधु मानव बन सके। रूसो ने इस काल की शिक्षा को निषेधात्मक शिक्षा की संज्ञा दी है। इससे उसका अभिप्राय उस शिक्षा से है जो 'प्रत्यक्षतः ज्ञान देने के पूर्व बालकों के ज्ञानेन्द्रियों को पूर्ण तथा ज्ञान-शक्ति को उचित अभ्यास द्वारा तर्कयोग्य बनाती है।' निषेधात्मक शिक्षा का तात्पर्य समय को शिथिलता से बिताना नहीं वरन् यह उससे पूर्णतः भिन्न है। यह शिक्षा गुण-वृद्धि तो नहीं करती किन्तु अवगुणों से अवश्यमेव बचाती है। यह सत्य की भावना तो नहीं भरती किन्तु असत्य से दूर रखती है। इसके विपरीत विधेयात्मक शिक्षा 'बालक के मस्तिष्क को उचित समय के पूर्व ही परिपक्वता प्रदान करना चाहती है तथा युवा के कर्त्तव्यों के पालन का निर्देश करती है।'

निषेधात्मक शिक्षा के अनुसार शारीरिक विकास के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता की आवश्यकता है। सादा भोजन, साधारण वस्त्र, ग्रामीण-जीवन, खुले मैदान में घूमना-फिरना तथा कृत्रिम समाज से दूर प्राकृतिक वातावरण में विचरण करना वांछनीय है। बालक को भी स्व-अनुभव प्राप्त करने का तथा अपने कार्यों के फल भोगने का अवसर मिलना चाहिए। यदि बालक बड़ों के साथ चलने के लिए कपड़ा पहनने अथवा तैयार होने में सुस्ती करता है तो अभिभावक को उसे घर पर ही छोड़ देना चाहिए। यदि वह अल्हड़पने में अपने सिर को मेज से टकरा लेता है तो उसे ऐसा करने देना चाहिये। कहने का अभिप्राय यह है, कि बालक अनुभव, ज्ञान और शिक्षा स्वयं अपने कार्यों द्वारा समाज प्रभाव रहित अवस्था में, अपने स्वाभाविक प्रवृत्तियों तथा मौलिक आवश्यकताओं की प्रेरणा से प्राप्त कर सके।

रूसो के शिक्षा सम्बन्धी विचारों की प्रतिक्रिया

एमील के क्रांतिकारी विचारों ने बुद्धिजीवी यूरोप के कान खड़े कर दिये। कुछ ने इसकी प्रशंसा की तो अधिक ने निंदा। दिदरात एवं डी एलवर्ट आदि ने मुक्त कंठसे उसकी महत्ता स्वीकार की। विचार-

शील प्रसिद्ध विद्वान एमैनुअल कांत एमील के अध्ययन में इस प्रकार तल्लीन हो गया कि उसे नित्य का सायंकाल का घूमना भी स्थगित करना पड़ा। वोल्तेर ने एमील के विषय में कहा कि 'पुस्तक शिशुओं के लिये अत्यन्त उपयुक्त है।' किंतु पेरिसके आर्कविशाप ने आदेश दिया कि पुस्तक जिनेवा की सड़कों पर जला दी जाय और लेखक को सूली पर लटका दिया जाय।

इस अनोखी पुस्तक का अनुवाद तत्काल ही अनेक भाषाओं में होने लगा, फलस्वरूप अधिक लोग बालक की समस्याओं में रुचि लेने लगे। 'सोसाइटी लेडीज़'ने भी अपने शिशुओं का स्वयं लालन-पालन आरम्भ कर दिया और अगणित माता-पिता अपने बच्चों के पालन पोषण एमील और सोफी की भाँति करने लगे। इतना ही नहीं शिक्षित वर्ग बालकों के संबन्ध में 'डायरी' भी रखने लगा। जर्मनी के कुछ सामंत एमील से इतने प्रभावित हुये कि उन्होंने अपने घरों में बालकों को समुचित वस्तु-ज्ञान कराने के लिये छोटे-छोटे कारखानों की स्थापना की। साहित्यकों ने एक नवीन बाल-साहित्य की रचना की। निःसंदेह पुस्तक प्लेटो के 'रिपब्लिक' से किसी भी दृष्टि में कम मौलिक अथवा उपयोगी नहीं।

प्रतिक्रिया के कुछ स्थायी परिणाम

शिक्षा एक जीवन-प्रक्रिया:—रूसो के पूर्व दीर्घ काल से शिक्षा बालक को एक पूर्व निश्चित साँचे में ढालने की प्रक्रिया समझी जाती थी। यह प्रक्रिया वास्तव में बालक के जीवन को विषादमय बनाने वाली थी। रूसो ने ऐसी शिक्षा का घोर विरोध किया। और बालक की स्वाभाविक रुचि, मूलप्रवृत्ति एवं तात्विक आवश्यकताओं को ही शिक्षा का मूलाधार घोषित किया। अतएव बालक के अंतःप्रेरित कार्य से प्राप्त अनुभव ही वास्तविक

शिक्षा समझी जाने लगी और इसी के फलस्वरूप ही आज हम शिक्षा को एक जीवन प्रक्रिया मानते है।

शिक्षा प्रक्रिया में स्वाभाविकता:—अबतक शिक्षा एककृत्रिम प्रक्रिया थी। रूसो के विचारों ने इस कृत्रिमता का अन्त किया। फलतः शिक्षा पद्धति में भी आमूल-चूल परिवर्तन हो गया। अब से भूगोल का ज्ञान पुस्तकों से न प्राप्त कर पर्यटन एवं देशाटन द्वारा सूर्य, पृथ्वी, वन, पर्वत, नदी-नाले, ऋतुपरिवर्तन आदि के प्रत्यक्ष निरीक्षण, ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान तारों एवं ग्रहों के अध्ययन, वनस्पति विज्ञान का पेड़ पौधों के निरीक्षण, रसायन शास्त्र का प्रयोगों द्वारा, गणित का जीवन कार्यों से सम्बन्धित आर्थिक आवश्यकताओं द्वारा तथा इतिहास का ज्ञान पुस्तकों के आधार पर प्राप्त करना सर्वमान्य हो गया।

बालक शिक्षा प्रक्रिया का मुख्य अङ्ग, रूसो के विचारों के फल स्वरूप ही बना। बालक जो अबतक पुस्तकों के ढेर में विस्मृत था, परम्पराओं एवं संस्थाओं के भार से कराह रहा था, जिसके नेत्रों में के अश्रु छलकते थे, जो सुस्त, उदास, दलित एवं त्रसित हो कर दासता का जीवन व्यतीत कर रहा था; रूसो के आन्दोलन के फलस्वरूप मुक्ति पाया। पुस्तकों के भार को उठा फेका और शिक्षा मंच पर आ धमका। इतना ही नहीं वह स्वयं ही अभिभावक अथवा शिक्षक के अध्ययन की पुस्तक बन बैठा। शिक्षालय की समस्त क्रियायें उसने संचालित होने लगीं और समस्त सामग्री उसके इशारों पर नाचने लगी अर्थात् बालक शिक्षा प्रक्रिया का केन्द्र बिन्दु बन गया।

शिक्षा में शिशु केन्द्रित शिक्षावाद का नव आन्दोलन बालक की परिवर्तित स्थिति का द्योतक है। शिक्षा की सभी नवीन प्रवृत्तियाँ आज बाल-केन्द्रित हैं। 'मान्तेसरी पद्धति ने कुछ शिक्षण सामग्री को

छोड़ प्राय: सभी वस्तुओं को उठा फेंका। अध्यापक बालक के मार्ग से अलग जा खड़ा हुआ। डाल्टन पद्धति में बालक ने तो अध्यापक का स्थान ही ले लिया है। बुद्धि परीक्षण ने बालक को अत्यधिक प्रधानता प्रदान किया है। गैरी योजना तो बालक के आवश्यकतानुसार ही विद्यालय का निर्माण करती है। खेल-प्रणाली मूलत: बालक के लिये ही बनी है। अभिक्षेप पद्धति तो बालक के सम्मुख नत मस्तक है।' यह सभी नवीन शिक्षा पद्धतियां एवं योजनायें रूसो के सिद्धान्तों से ही निसृत हैं जिसने कहा था, 'बच्चे को प्यार करो तथा उसके क्रीड़ा, आनन्द एवं सुन्दर प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दो।'

शिक्षा में मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक प्रवृत्तियों का सूत्र-पात रूसो के विचारों में ही निहित है। पेस्तॉलॉजी, हरबार्ट एवं फ्रोबेल आदि रूसो के विचारों से अत्यधिक प्रभावित हुए और रूसो की कल्पना को वास्तविक रूप देने में प्रयत्नशील हो गये। फलत: मनो-विज्ञान और उसी से आबद्ध सामाजिक प्रवृत्तियों का शिक्षण प्रक्रिया में प्रवेश हुआ। मैकडूगल का मनोविज्ञान, थार्नडाइक का बुद्धि-परीक्षण सम्बन्धी कार्य, मनोविश्लेषण तथा अचेतन-मनोविज्ञान आदि रूसो के विचारों से ही उत्पन्न हैं।

शिक्षा में बाल-अध्ययन आन्दोलन भी रूसो के विचारों का प्रतिफल है। आज प्राय: समस्त शिक्षित जगत में माता-पिता बालक के जीवन क्रियाओं की सूची बड़े चाव से तैयार कर रहे हैं और इसकी सहायता से बाल-विकास को अग्रगति दे रहे हैं।

शिक्षा में अनुभव के प्राधान्य का आधार रूसो के विचार ही हैं। आज प्रत्यक्ष अनुभव को अधिक महत्त्व देने के फलस्वरूप पढ़ने, लिखने एवं गिनने की प्राथमिकता पाठ्यक्रम से लुप्त होती जा रही है। बालक के समुचित विकास के लिये नृत्य, संगीत, कला तथा दस्तकारी पर संसार के प्राय: सभी विद्यालयों में बल दिया जा रहा

है। आज नगर के बालकों के लिये पर्यटन यात्रा एवं कुछ काल तक ग्राम-निवास अनिवार्य सा होता जा रहा है। भारतवर्ष में समुदाय-भावना उत्पन्न करने हेतु शहरी बालकों को गावों में जाना तथा वहाँ ग्राम-उत्थान कार्य करना आवश्यक सा हो गया है। उत्तर प्रदेश में बालकों के पूर्ण विकास ही के दृष्टि से कृषि, कला एवं दस्तकारी प्रायः सभी •जूनियर विद्यालयों में अनिवार्य विषय हो गया है। इतना ही नहीं उद्यान-विद्यालयों की भी संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ रही है।

शारीरिक-विकास का महत्त्व, रूसो के विचारों के ही कारण प्राप्त हुआ। बारह वर्ष की अवस्था तक बालक रूसो के अनुसार पुस्तक से अनभिज्ञ रहेगा और शरीरावयवों एवं इन्द्रियों को ही कार्यशील रखेगा। इस सिद्धान्त ने आज शिक्षा जगत् में खेलकूद तथा कसरत आदि को पुस्तकों से कम महत्त्व नहीं दिया है।

विद्यालयों से दण्ड दलन एवं ताड़ना की विदा सदा के लिये हो गई है। अब विद्यलय 'मन का हत्यागृह' नहीं रह गया है और न तो यह उदास निराश एवं अवसादपूर्ण है। शिक्षा-शास्त्रियों का आज नारा है 'बाह्य हस्तक्षेप कदापि नहीं, बालक बन्धन नहीं सहेगा; उसकी आत्म-अभिव्यक्ति, जन्मसिद्ध अधिकार है।' इस नारे की प्रतिध्वनि आज समस्त संसार में गूँज उठी है। फलस्वरूप बालक स्वतन्त्र आह्लादित एवं उन्मुक्त है; और उसको ऐसी अवस्था में देख कर आज यह जनमत है कि निःसन्देह बालक आनन्दमय राज्य में प्रवेश कर रहा है।

७

नव शिक्षा-प्रवर्त्तक : पेस्तॉलॉज़ी

पेस्तॉलॉँज़ी का जीवन चरित्र—शिक्षा सम्बन्धी विचार एवं प्रयोग—शिक्षा पर प्रभाव—शिक्षा में उसकी देन; शिक्षा सबके लिये, शिक्षा का अभिप्राय, विद्यालय गृह के समान, शिक्षण विधियाँ, नये शिक्षण सिद्धान्त, शिक्षा में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति, शिक्षक और प्रशिक्षण, विनय हेतु स्नेह एवं मृदुल व्यवहार अपेक्षित।

जीवनचरित्र:—हेनरी पेस्तॉलॉजीका जन्म सन् १७४६ई०में स्विटज़रलैंड में हुआ था। पाँच वर्ष की अवस्था में पिता की मृत्यु हो गई। उसके अभाव में पेस्तॉलॉँजी का अधिक समय घर में विधवा माता तथा विश्वसनीय गृह-परिचारिका के बीच बीता। फलस्वरूप बालक के स्वभाव में नारी सुलभ कोमलता, भावुकता एवं अव्यवहारिकता आ गई। स्वभावत: वह सरल था। ग्राम-पाठशाला में उसके साथी उसको भोंदू कहा करते थे। ग्राम-विद्यालय की शिक्षा समाप्त कर उसने स्विटज़रलैंड-के एक विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। किशोरावस्था के इसी सक्रान्ति काल में उसे 'एमील' पढ़नेका अवसर मिला। इस नव-प्रकाशित पुस्तक का प्रभाव बालक पर अधिक पड़ा जिसे वह स्वयं स्वीकार करता है कि "जब मैंने इस स्वप्नवत् पुस्तक को पढ़ा तो मेरी काल्पनिक वृत्तियाँ उत्साह की असाधारण सीमा तक उत्कंठित हो उठी। मैं अपने गृह और पाठशाला में प्राप्त शिक्षा की तुलना एमील से करने लगा और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि हमारी शिक्षा कितनी अधूरी निम्न एवं तुच्छ थी'।

पेस्तॉलॉँज़ी सरल ही नहीं सुधारवादी भी था। जन साधारण के सुधार हेतु मंत्रिमण्डल में प्रवेश पाने के लिये उसने निश्चय किया; किन्तु रूसों के विचारों की उसपर इतनी गहरी छाप पड़ी कि उसने

कृषक के उत्कृष्ट, समादृत एवं साधारण जीवन को ही अपनाना उचित समझा। उच्च आशाओं के आह्लादमय मानसिक उथल-पुथल में उसने दूसरे से ऋण लेकर 'बिर' में सौ एकड़ भूमि कृषि हेतु खरीद लिया और इस कृषि क्षेत्र को 'न्यूहॉफ' कहता था। वह एक आदर्श किसान बनना चाहता था किन्तु व्यवहारिकता के अभाव में उसके आशाओं पर पानी फिर गया। विवश होकर शिक्षा द्वारा समाज-सेवा करनेका निश्चय किया। इसी समय एक योग्य किन्तु निर्धन युवती ने विवाह किया। सन् १७७४ ई० में गरीब किसानों के बीस दीन एवं अनाथ बच्चों को एकत्र कर उसने उन्हें पढ़ाना आरम्भ किया जिन्हें वह वस्त्र तथा भोजन भी देता था और अपने पुत्र समान मानता था। पेस्तॉलॉजी उन बालकों को साथ लेकर समयानुसार खेती-बारी और कताई-बुनाई का कार्य करता था और बालिकाओं को सीने-पिरोने तथा गृह कार्य में संलग्न रखता था। साथ ही साथ उनको लिखने, पढ़ने और गिनने का ज्ञान भी कराता था। जब इन कार्यों से अवकाश मिलता तो बाइबिल के उपदेशों को कंठस्थ कराता था। किन्तु खेदकी बात है कि यह सुन्दर प्रयोग सफल न हो सका। धनाभाव के कारण स्कूल बन्द हो गया। इसी प्रयोग में बेचारा अपनी सारी सम्पत्ति भी खो बैठा। इसी काल में इसे अपने पुत्र 'जॉक' के शिक्षण का ध्यान हुआ। एमील के विचारों से तो पूर्व ही प्रभावित था। अब उसे कार्य रूप में परिणत करने का अवसर मिला। अतएव अपने पुत्र के शिक्षण में उसका प्रयोग करने लगा और 'जरनल ऑफ ए फॉदर' नामक डायरी को पूरा किया जो उसके पुत्र के नित्य-प्रति के जीवन क्रियाओं का संग्रह है। इस अन्धकारमय भविष्य के समय वह करता क्या? अपने साथियों के कहने पर पुस्तक रचना की ओर प्रवृत्त हुआ और 'ल्यूओनार्ड एण्ड गरट्रूड' नामक उपन्यास में अपने शिक्षा सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। क्रमशः १७८२ ई० में 'क्रॉइस्टोफर एण्ड इलिजा,' १७९७ ई०

में 'इन्क्वायरी इन्टू द कोर्स ऑफ नेचर इन द डेवलपमेन्ट ऑफ द ह्युमन रेस' और 'फेबुल्स' की रचना किया। १७८२ ई० में ही उसने 'स्विस जरनल' नाम की पत्रिका का सम्पादन कार्य भी प्रारम्भ किया था; परन्तु धनाभाव एवं ग्राहकों की कमी के कारण वह भी रुक गया।

भाग्य-रेखा चमकी। उसे 'स्टॉन्ज़' में एक स्कूल खोलने की सुविधा मिली; किन्तु सहायकअध्यापक, पुस्तक, एवं शिक्षण-सामग्री के अभाव में वह बालकों को अपने अनुभव एवं निरीक्षण के आधार ही पर पढ़ाता रहा। निस्सन्देह उसकी शिक्षण-विधि का यहीं सूत्रपात होता है। कुछ ही कालोपरान्त इसी भवनमें सरकार की ओर से अस्पताल खोलने के आदेश के फलस्वरूप उसका स्कूल बन्द हो गया। दृढ़-प्रतिज्ञ पेस्तॉलॉजी अपने उद्देश्यमें फिर भी रत रहा और 'बर्ग डार्फ' में दूसरा स्कूल खोला जो तीन बर्ष तक उसके सहयोगियों की सहायता से सफलता पूर्वक चला। यहाँ से भी सरकारी आदेशानुसार वह विद्यालय 'म्यून्शेनबूशी' में स्थानान्तरित कर दिया गया और इसकी अध्यक्षता भी पेस्तॉलॉजी के मित्र फेलेनवर्ग को हस्तांतरित कर दी गई। अब पेस्तॉलॉजी ने 'बरडन' में दूसरा स्कूल खोला। भाग्य-रेखा पलटी। विद्यालय इतना ख्याति सम्पन्न हुआ कि सुदूर के शिक्षक भी अध्यापन-कला सीखने आये जिनमें विशेषतया फ्रावेल तथा हरबार्ट का नाम उल्लेखनीय है। दुर्दैव से आपसमें मतभेद होने से यह विद्यालय भी १८२४ ई० में बन्द हो गया और फिर उसने 'क्लिडी' में स्कूल खोला। परन्तु अब उसका दृढ़ मन विचलित हो चुका था क्योंकि उसकी पतिव्रता एवं त्यागमयी स्त्री का देहान्त हो चुका था। अस्तु जीवन की विषम परिस्थितियों का सामना करता हुआ सन् १८२७ ई० में उसने अपनी इहलीला समाप्त की।

शिक्षा संबंधी विचार एवं प्रयोग

अभी फ्रांस की महाक्रांति नहीं हुई थी। फ्रांस के ही समान युरोप

के अन्य देशों में भी अन्धविश्वास, धार्मिक हठवादिता, दरिद्रता, अविद्या तथा सामाजिक विषमता ने जनसमूह को कतिपय भाग्यशाली और दलित, दो वर्गों में विभाजित कर दिया था। समुचित शिक्षा भी कतिपय साधन सम्पन्न बालकों को ही प्राप्त थी। अधिकांश अबोध परन्तु गुणीभूत बालक शिक्षा विहीन रह जाते थे। विद्यालयों की दशा भी सोचनीय थी, इनमें मारपीट, डाँट-फटकार, भय एवं असमर्थता आदि का ही प्राधान्य था। पेस्तॉलॉज़ी ने एक ऐसे ही विद्यालय के कुछ बालकों को खेलते देखा। उनकी आँखों में ज्योति, आनन्द एवं भोलापन और उनकी क्रियायों से संतुष्टि तथा प्रसन्नता टपक रही थी। किन्तु कुछ अधिक आयु वाले कुमारों की आँखें धँसी, गाल पिचके और मुख पर दुख की रेखायें अङ्कित थीं। पितृहीन पेस्तॉलॉज़ी जो माता के अत्यधिक मोह एवं स्नेह के वातावरण में अपने बाल-जीवन का अधिक काल बिता चुका था, और बालकाल में अत्यधिक नारी सम्पर्क के कारण भावुक, प्रियालु, दयालु ही नहीं वरन् अपने साथी नीदर के शब्दों में 'पुरुष की अपेक्षा नारी प्रकृति का हो गया था'; बालकों को इस अवस्था में देखकर विकल हो उठा। वह भावुक दयालु और सर्वोपरि सुधारवादी था। गरीबी ही में इन सभी दोषों का कारण पाया। अतएव गरीबी को मिटाने तथा जन समूह के सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा करने को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाया। शिक्षा को अपने लक्ष्य प्राप्ति का सुन्दर साधन समझा। उसका दृढ़ विश्वास था कि शिक्षा द्वारा ही समाज में सुख-समृद्धि एवं सुधार लाया जा सकता है।

'न्यूहॉफ' में अपने जीवन के बहुमूल्य पाँच वर्षों को उसने गरीब किसानों के दीन एवं अनाथ बच्चों के साथ बिताया। शिक्षा देने हेतु उनको अपने घर ही में इकट्ठा कर लिया था। उनसे खेतो में काम लेता और कताई-बुनाई कराकर साथ ही साथ लिखना, पढ़ना और गिनना भी सिखाता था। अवकाश काल में उन्हें बाइबिल के

उपदेशों का ज्ञान देता था। ऐसी ही शिक्षा की कल्पना उसने अपने उपन्यास 'ल्योनार्ड एण्ड गरट्रूड' में की। एक गरीब किसान की लड़की गरट्रूड अपने पियक्कड़ पति को सुधारती तथा अपने बच्चों को शिक्षित करती है और साथ ही साथ पूरे समुदाय को अपने आदर्श जीवन से प्रभावित कर उन्हें भी सुधारोन्मुख करती है। संयोग से एक चतुर अध्यापक उस गाँव में पहुँच जाता है और गरट्रूड के कार्य में सहयोग देने लगता है। उनके कार्य की सराहना सभी करने लगते हैं। इतना ही नहीं इसकी ओर सरकार का ध्यान भी आकर्षित हो जाता है। पेस्तॉलॉजी का 'न्यू हाफ' का शिक्षा प्रयोग एवं उसके कल्पित विचार उसके सुधारवादी मनोवृत्ति एवं जीवन उद्देश्य का स्पष्टीकरण करते हैं। उस पर रूसो के विचारों का भी अत्यधिक प्रभाव पड़ा था। गरीबों की सेवा ही उसकी अन्तःप्रेरणा थी। धर्म उसका लक्ष्य नहीं था वरन् सामाजिक सुधार। अतः अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु उसने शिक्षा में सुधार करना आवश्यक समझा।

तत्कालीन शिक्षा-पद्धति में मस्तिष्क ही का प्राधान्य था। पुस्तक अथवा अध्यापक द्वारा अनुभव अर्जन को ही शिक्षा समझा जाता था। बालक के व्यक्तित्व के विकास के लिये इस शिक्षा में कोई अवसर ही न था। पेस्तॉलॉजी तो मानव को शिक्षा द्वारा मानव बनाना चाहता था। उसी के शब्दों में तो उसे 'शब्द-ज्ञान' के स्कूल मिले, 'लिखने' के स्कूल मिले 'वादाविवाद' के स्कूल मिले किन्तु 'मानव' के स्कूल नहीं मिले। मानव को मानव बनाने के लिये, आत्म निर्भरता एवं शारीरिक, बौद्धिक तथा नैतिक विकास में संतुलन को पेस्तॉलॉजी ने आवश्यक समझा। अतः उसने एक ऐसी शिक्षा विधि का प्रतिपादन एवं प्रयोग किया जो कतिपय सौभाग्यशालियों के लिये ही नहीं वरन् जनसमूह के लिये थी, जो केवल मनुष्य के मस्तिष्क को ही नहीं अपितु उसके हाथ एवं हृदय को भी क्रियाशील रक्खे। इनकी क्रिया-

शीलता ही में व्यक्तित्व का विकास, मानव-उन्नयन एवं सामाजिक समृद्धि-शालिता निहित है। आत्म निर्भरता अथवा मनुष्य की समस्त आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए कृषि, उत्पादन, व्यवसाय, समस्त उपयोगी कलाओं एवं विज्ञान को अपने विद्यालय का प्रमुख कार्य एवं विषय बनाया। साथ ही साथ धर्म, नीति एवं सामाजिक शास्त्र को भी गौण स्थान दिया और उनमें सामंजस्य स्थापित किया।

शिक्षा में गृह के महत्व को सर्व प्रथम पेस्तॉलॉजी ने स्वीकार किया और कहा कि बालक के लिये सबसे सुन्दर पाठशाला गृह ही है। माता ही पिता के सहयोग से सुयोग्य शिक्षक का कार्य कर सकती है। इसी आदर्श को दृष्टि में रखते हुए उसने गरीब बालकों को अपने घर में स्थान दिया और 'ल्योनार्ड एण्ड गरट्रूड' में गरट्रूड के घर को आदर्श विद्यालय के रूप में चित्रित किया है। जीवन संबन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु ही बालक कताई-बुनाई एवं खेती-बारी में व्यस्त रहते हैं। यद्यपि बालक जीवन रक्षक सभी क्रियाओं को अपनी आवश्यतानुसार प्रारम्भ ही से शुरू कर देते हैं किन्तु पढ़ाई, लिखाई एवं ज्ञानार्जन हेतु उन्हें कोई व्यवस्थित शिक्षा नहीं दी जाती। गरट्रूड बालकों को केवल बोलना सिखाती है, किन्तु ऐसा करते समय वह कभी निर्देशिका के समान व्यवहार नहीं करती, बल्कि सरल एवं मृदु वाक्यों को वस्तुओं के साथ सम्बद्ध करते हुए उनसे कुछ कहती है। उदाहरण स्वरूप सिर, नाक और हाथ की ओर संकेत करते हुए प्रिय शब्दों का प्रयोग करती है। यह न पूछ कर कि 'तुम्हारा हाथ कहाँ है? तुम्हारा सिर कहाँ है?' वह कहती है 'बालक यह तुम्हारा सिर है। यह तुम्हारा हाथ है। बालक आओ मेरे पास, मैं तुम्हारी आँखों को साफ करूँ। आओ, तुम्हारे बालों में कंघी करें।' इसी प्रकार अंकगणित का ज्ञान कराने के लिये वह बालकों से सीढ़ियों, कमरे की दीवालों, खिड़कियों एवं उनकी कताई की लच्छियों तथा उनके धागों को गिनाती है। कहने का अभिप्राय यह है

कि पेस्तॉलॉज़ी ने रूसो के कल्पित शिक्षण-विधि को प्रयोगात्मक रूप देकर शिक्षा जगत को, वस्तु तथा क्रिया पर आधारित प्रत्यक्ष ज्ञान एवं विधि की देन दिया।

'स्टॉन्ज़' में सहायकों, पुस्तकों एवं शिक्षण सामग्रियों के अभाव में विवश होकर उसने निरीक्षण एवं अनुभव को ही निर्देशन का आधार बनाया और समस्त बौद्धिक तथा शारीरिक प्रशिक्षण में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किया। इतना ही नहीं धर्म एवं नैतिकता आदि की भी शिक्षा शब्दों द्वारा न देकर बालकों के प्रतिदिन के जीवन समस्याओं के आधार पर देना प्रारम्भ किया। इसी प्रकार उनमें आत्म नियंत्रण, उदारता, सहानुभूति एवं सहृदयता की भावना को दृढ़ करने का प्रयत्न किया। उसके अनुसार बालक में स्नेह एवं सहानुभूति उत्पन्न करने के लिये शिक्षक को स्वयं सहानुभूति पूर्ण होना चाहिये। शिक्षा का सिद्धान्त केवल पढ़ाना नहीं वरन् प्यार करना है। ये ही सफल शिक्षक के गुण हैं।

पेस्तॉलॉज़ी शिक्षा की सफलता, बालक को प्रत्येक दृष्टि से आत्म-निर्भर बनाने में मानता था। उसके अनुसार वह शिक्षा अधूरी है जिसने बालक को अपने पैरों पर खड़ा होना नहीं सिखाया। और यह तभी संभव है जब बालक अपने निर्वाह हेतु स्वयं कार्य करे, दूसरे से सहानुभूति एवं स्नेह पाने के लिये अन्यों के प्रति स्वयं भी वैसा आचरण करे, तथा मानसिक उन्नयन हेतु ज्ञान का अन्वेषण स्वयं करे। केवल दूसरों के अनुभव एवं प्रमाण पर सन्तुष्ट हो मौन न हो जाय वरन् स्वत: विचार करे और स्वविचार पर निर्भर हो। इस प्रकार सभी ज्ञानेन्द्रियों से स्व-प्राप्त अनुभव 'स्वानुभूति' के अन्तर्गत आ जाते हैं। स्व-अनुभूति ही ज्ञान की आधार शिला है। पेस्तॉलॉज़ी इसी सिद्धान्त को 'ऑन स्वॉन्ग'* कहता है।

* Anschauung

'बरडन' में उसने अपनी अपूर्ण शिक्षण-विधियों को परिपक्वता प्रदान की। 'इकाइयों और भिन्नों' की तालिका को विस्तृत रूप दिया। भूगोल, नेचरस्टडी एवं इतिहास के कार्य में निरीक्षण का प्रतिपादन किया। ज्यामिति का ज्ञान कराने हेतु दफ्ती एवं लकड़ी के प्रत्यक्ष तथा ठोस सामग्रियों के प्रयोग की उपादेयता सिद्ध की। भाषा ज्ञान के लिये वाक्य को शब्दों में और शब्दों को उच्चारण में विभक्त किया और प्रत्येक अवस्था के लिये कुछ विशिष्ट अभ्यासों को पाठ्यक्रम में निर्धारित किया। और आज की 'फोनिक' विधि का सूत्रपात पेस्तॉलॉज़ी की उपरोक्त विधि में ही निहित है। हरबार्ट के शब्दों में 'पेस्तॉलॉज़ी के विधि की विशेषता, बालक के मस्तिष्क को निर्मित करने, उसमें इन्द्रिय-सविकल्प ज्ञान के आधार पर निश्चित अनुभव कराने, और यह समझते हुए कि बालक अनुभव हीन है, उसके मानसिक स्तर एवं पूर्वज्ञान को ध्यान में रखते हुये, उसका उचित विकास करना है।

पेस्तॉलॉज़ी दार्शनिक नहीं था। वह स्वयं स्वीकार करता है, कि "बीस वर्ष की अवस्था से मैं दार्शनिक मनन में पूर्णत: असमर्थ हूँ"*। किन्तु, उसकी अन्त: प्रेरित सुधारवादी वृत्ति, सहृदयता तथा शिक्षक के रूप में उसके शिक्षा संबंधी प्रयासों के फलस्वरूप कुछ आधुनिक शिक्षा विधियों का सूत्रपात हुआ, जिनमें वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक पुट नहीं, जो केवल प्रयोग हेतु ही थीं, किन्तु आज के नव शिक्षा के सिद्धान्त एवं प्रयोग में प्राय: सर्वत्र व्याप्त हैं।

पेस्तॉलॉज़ी के शिक्षा-विधि का प्रसार:—पेस्तॉलॉज़ी की 'निरीक्षात्मक विधि' तथा उसी के विद्यालयोंके समरूप विद्यालयोंका प्रसार शीघ्र ही प्राय: समस्त यूरोपमें हो गया। कुछ स्विस प्रारम्भिक विद्यालयों में

*How Gertrude Teaches Her Children, English Trans. P. 83.

उसके विचारोंके आधार पर कार्य आरम्भ हुआ। इस सुधार का प्रादुर्भाव 'प्रशा' में भी शीघ्र ही हो गया। सन् १८०८ ई० में पेस्तॉलाँजी के दो शिष्यों को राज्य द्वारा संचालित जन-शिक्षा के डाइरेक्टर का पद प्राप्त हुआ और कुछ ही दिनों में प्रशा के समस्त प्रारम्भिक शिक्षा में 'पेस्तॉलाँजियन विधि' पूर्णतः प्रवेश कर गई। यद्यपि प्रारम्भ में फ्रांस की शिक्षा पर इस विधि का कोई प्रभाव नहीं पड़ा था, किन्तु १८३० ई० के क्रान्ति के उपरान्त तत्कालीन शिक्षा मन्त्री के प्रयास से इस विधि का शीघ्र ही समस्त देश में बोलबाला हो गया। इसके प्रभाव से इग्लैंड भी अछूता न रहा; और वहाँ के शिशु विद्यालयों में पेस्तॉलॉजी के शिक्षा प्रयोग का अनुसरण होने लगा। अमेरिका में भी इस विधि का प्रवेश उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ। पेस्तॉलॉजी के सहायक जासेफ नीफ़ को अमेरिका ने आमन्त्रित किया, जिसने फिलाडेलफिया और ऐसे ही अन्य स्थानों पर स्कूल स्थापित किये। पेस्तॉलाँज़ियन विधि के प्रभाव के फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दीके अन्त तक 'वस्तु-शिक्षण' अमेरिका के प्रायः सभी प्रारम्भिक विद्यालयों में अपना लिया गया।

शिक्षा में देन

शिक्षा सबके लियेः—पेस्तॉलॉज़ी के सम्मुख समाज सुधार एक प्रमुख प्रश्न था, जिसके समाधान का महत्वपूर्ण साधन उसके दृष्टि से शिक्षा थी। अतएव उसने शिक्षा को प्रत्येक के लिये उपलब्ध होना आवश्यक समझा। यदि रूसो ने एक व्यक्ति एमील के ही सुधार को अपने दृष्टि में रखा तो पेस्तॉलॉज़ी उन समस्त बालकों को शिक्षित करना चाहता था जो चाहे निर्धन हों अथवा सामान्य एवं मन्द बुद्धि वाले। अतः पेस्तॉलॉज़ी ने केवल सार्वलौकिक शिक्षा के आन्दोलन ही को नहीं प्रारम्भ किया वरन् शिक्षा सम्बन्धी परम्परागत विचारों में आमूल चूल परिवर्तन कर दिया।

शिक्षा का अभिप्राय मानसिक नैतिक एवं शारीरिक विकासः– तत्कालीन बालकों के सम्बन्ध में वह कहता है कि 'बालकों में पर्याप्त गुण, शक्ति एवं अनुभव है, किन्तु हमारी पाठशालायें जिनके अँधेरे कक्ष में बालक भेड़ की तरह ठूस दिये जाते हैं, एक प्रकार से बालकों के गुणों के दलन की मशीनें बन गई हैं। शिक्षा दलन के लिये नहीं, विकास के लिये है। यह व्यक्ति के मानसिक, नैतिक एवं शारीरिक शक्ति के उन्नयन की एक प्रक्रिया है, यह क्रमागत विकास, क्रिया शीलता एवं स्व-इच्छित क्रियाओं पर आधारित है। दूसरे शब्दों में शिक्षा बालक के ईश्वर प्रदत्त आन्तरिक शक्तियों के समुचित एवंसंतुलित विकास का साधन है। अतएव अध्यापक का कार्य बालक के विकास हेतु उसके स्वभाविक क्रियाओं में सहायता देना एवं आवश्यक सामग्रियों को एकत्र करना है। हमारी शिक्षा तथा पद्धति बालक के विकास में कदापि सहायक नहीं।

विद्यालय गृह के समानः—पेस्तॉलॉजी ने एक ऐसी पाठशाला और शिक्षण विधि का प्रतिपादन किया जो बालक के बौद्धिक, नैतिक एवं शारीरिक विकास में सहायक हो। उसने घर ही को एक उपयुक्त पाठशाला माना और पाठशाला को घर के रूप में परिणत करने पर बल दिया। उसकी दृष्टि में पाठशाला को घर का परिवर्तित रूप होना चाहिये। घर की क्रियाओं को ही पाठशाला में प्रधानता मिलनी चाहिये, क्योंकि ये ही अनुभव एवं ज्ञानार्जन के सुन्दर माध्यम हैं।

शिक्षण की नई विधियाँः—पठन-पाठन विधि भी जीवन रक्षक क्रियाओं पर ही आधारित होनी चाहिये। घर की वस्तुओं के द्वारा भाषा एवं अंकगणित का ज्ञान अपेक्षित है। लिखना तथा चित्र बनाने का प्रारम्भ कोण, सरल एवं बक्र रेखाओं आदि द्वारा होना चाहिये। भूगोल का ज्ञान पाठशाला में एकत्रित सामग्रियों, ग्राम-दर्शन एवं कृषि द्वारा देना चाहिये। पेस्तॉलॉजी के प्रयोगों के फलस्वरूप शिक्षा में

अनेक नवीन सिद्धांतों का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका उल्लेख उसके शिष्य एवं जीवन चरित्र लेखक 'मार्फ' ने इस प्रकार किया है।

पेस्तॉलॉजी के शिक्षण सिद्धान्तः—

(१) निरीक्षण अथवा इन्द्रिय-सविकल्प-ज्ञान ही निर्देशन का आधार है।

(२) भाषा-ज्ञान सर्वदा वस्तु तथा क्रिया आदि के निरीक्षण से सम्बद्ध होना चाहिये।

(३) सीखने के समय निर्णय तथा आलोचना उचित नहीं।

(४) प्रत्येक क्षेत्र में शिक्षा का प्रारम्भ सरल तत्व से आरम्भ होकर क्रमशः बालक के उत्तरोत्तर विकास स्तर के अनुरूप होना चाहिये; और इनसबमें मनोवैज्ञानिक क्रम होना चाहिये।

(५) शिक्षण में प्रत्येक अन्विति पर पर्याप्त समय देना चाहिये ताकि विद्यार्थी उसे भली भाँति ग्रहण कर ले।

(६) शिक्षा, अधिकार पूर्ण व्याख्या नहीं वरन् इसका लक्ष्य बालक का समुचित विकास है।

(७) शिक्षक को शिक्षार्थी के व्यक्तित्व का आदर करना चाहिये।

(८) प्रारम्भिक शिक्षा का उद्देश्य शिक्षार्थी को केवल ज्ञान एवं प्रतिभा प्रदान करना ही नहीं वरन् उसे कुशाग्र बुद्धि बनाना है।

(९) बालक का ज्ञान, उसकी शक्ति एवं क्षमता के संगति क्रम में होना चाहिये।

(१०) शिक्षक एवं शिक्षार्थी का विनय सम्बन्धी पारस्परिक सम्बन्ध का आधार स्नेह होना चाहिये।

(११) निर्देशन, शिक्षा के उद्देश्य-प्राप्ति में केवल सहायक है।

शिक्षा के **मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त**—उपरोक्त सिद्धान्तोंके विवेचन में मनोवैज्ञानिक तत्व निहित है। पेस्तॉलॉजी बालक के मानसिक

शक्ति एवं विकास को सर्वदा ध्यान में रखते हुए निर्देशन अथवा शिक्षण प्रयोग के क्रम एवं विधि को निश्चित करता है। बालक ही उसका केन्द्र-बिन्दु है। बालक के व्यक्तित्व का उत्थान स्नेह, आदर एवं उसके रुचि पर आधारित क्रियाओं के वातावरण में ही होना, पेस्तॉलॉजी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य है। बालक की शक्ति, मौलिक क्षमता, स्वाभाविक इच्छा, विकास एवं उन्नयन की दृष्टि से पेस्तॉलॉजी रूसो के निकट है। वह शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाना चाहता है। और अपने 'आँन स्वाँन्ग' में स्पष्ट कहता है, कि "मैं शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाना चाहता हूँ। अर्थात् मैं शिक्षा को बालक के बुद्धि तथा विकास के अनुरूप ही देना चाहता हूँ।" सारांशत: पेस्तॉलॉजी ने शिक्षा में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव कर शिक्षा को उपयोगी ही नहीं वरन् शिक्षण विधि को रुचिकर और सरल बनाया।

शिक्षक के लिये प्रशिक्षण आवश्यकः—मनोवैज्ञानिक आधार पर शिक्षा देने हेतु अध्यापक को बालक, उसके मन एवं उसके समुचित ज्ञान के साथ शिक्षा-सिद्धान्त एवं शिक्षण-विधियों का भी ज्ञान होना आवश्यक है। अत: अध्यापक को शिक्षण के लिये पूर्व ही तैयार करना आवश्यक है। पेस्तॉलॉज़ी का ही ध्यान सर्वप्रथम इस ओर गया और उसने अध्यापकों के प्रशिक्षण पर बल दिया।

विनय का आधार स्नेह, सहानुभूति एवं अध्यापक का मृदु व्यवहारः—सफल शिक्षण हेतु अध्यापक में स्नेह-भावना वांछनीय है। बालक को भय एवं अधिकार के बदले स्नेह एवं सहानुभूति द्वारा अधिक प्रभावित किया जा सकता है। अस्तु शिक्षक एवं शिक्षार्थी के बीच स्नेह, सहानुभूति एवं मृदुल व्यवहार अपेक्षित है, यही विनय की आधार शिला है। *

* विशेष विवरण के लिये अ० १० देखिये।

८

हरबार्ट : शिक्षा-प्रयोग में प्रगति

जीवन चरित्र—हरबार्ट और शिक्षा; हरबार्ट और पेस्तॉलॉजी, शिक्षा का उद्देश्य, मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त, उसके 'विचार' संबंधी विचार, विचारों के आधार पर शिक्षण विधि, शिक्षा और विनय।

जीवन चरित्र:—जॉन फ्रेडरिक हरबार्ट का जन्म 'ओल्डेनबर्ग' (जर्मनी) में सन् १७७६ ई० में हुआ था। उसकी माता सुशिक्षित, संभ्रान्त एवं सुन्दर स्त्री थी और पिता एक कुशल वकील थे। पाँच वर्ष की ही अवस्था में खौलते हुये पानी के टब में गिर जाने के फलस्वरूप वह आजीवन दुर्बल शरीर रहा, किन्तु बुद्धि में प्रखर था। बाल्यकाल ही में उसने ग्रीक और दर्शन का पर्याप्त अध्ययन किया। तत्पश्चात् उच्च शिक्षा प्राप्ति हेतु 'ओल्डेनबर्ग' विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। विद्यार्जन में छः वर्ष के अथक परिश्रम के उपरांत विश्वविद्यालय से उसे प्रमाण पत्र प्राप्त हुआ जिसमें स्पष्ट शब्दों में अंकित था कि 'हरबार्ट अपने समस्त सहपाठियों में योग्यता, सुआचरण एवं अपनी प्राकृतिक शक्तियों के विकास तथा उन्नयन की दृष्टि से असमान रहा।' लॉ पढ़ने के हेतु उसके पिता ने उसे 'जेना' विश्वविद्यालय में भेजा, जहाँ वह चार वर्ष रहा। सौभाग्यवश यहाँ उसे जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक 'शीलर' का सम्पर्क प्राप्त हुआ। जेना छोड़ने के उपरान्त वह स्विटजरलैंड के गवर्नर के बच्चों का गृह-अध्यापक हो गया। उन्हीं के ८, १० तथा १४ वर्ष के तीन बालकों के शिक्षण-आधार पर अपने शिक्षण सिद्धांत का निरूपण किया तथा अपने दार्शनिक मनन को मनोविज्ञान और नीति में समाविष्ट किया। तदोपरान्त 'बर्गडॉफ' जाकर स्वयं पेस्तॉलॉजी के शिक्षण कार्य तथा प्रयोग को देखा और उसकी पुस्तक 'हाऊ गरट्रूड टीचेज़ हर चिल्ड्रेन' का भी अध्ययन

किया तथा उस पर समालोचनात्मक लेख लिखा। पुनः 'गूटिन ग्यन' विश्वविद्यालय में १८०२ से १८०९ ई० तक अध्यापन कार्य करना रहा। इस काल तक उसकी ख्याति इतनी बढ़ गई थी कि 'कूनिसवर्ग' विश्वविद्यालय में वह कॉंत के उपरान्त दर्शन विभाग के रिक्त अध्यक्ष पद को ग्रहण किया। निःसन्देह किसी भी विद्वान के लिए यह अत्यन्त सम्मानपूर्ण पद था। यहाँ पर उसने शिक्षा सम्बन्वी गोष्ठियों का आयोजन किया और एक प्रशिक्षण विद्यालय भी संचालित किया जो उसके शिक्षण सिद्धान्तों का उपयुक्त अनुसंधान शाला बन गया। इसी काल में उसने 'साइंस ऑफ पेडॉगॉगी' तथा 'आँउट लाइन्स ऑफ पेडॉगॉगगिकल थ्योरी' की रचना की जिसमें हमें उसके शिक्षा तथा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का सुन्दर सामंजस्य मिलता है। अन्ततः सन् १८४१ ई० में इस महान् अध्ययनशील दार्शनिक को अन्तगति प्राप्त हुई।

हरबार्ट और शिक्षा

हरबार्ट और पेस्तॉलॉज़ी:—हरबार्ट और पेस्तॉलॉज़ी यद्यपि एक ही लक्ष्य की प्राप्तिमें आजीवन लगे रहे किन्तु दोनोंकी गतिविधि में विभिन्नता है। पेस्तॉलॉजी ने जीवन भर अध्यापन कर कक्ष से अपने शिक्षा तत्वों को प्राप्त किया; किन्तु हरबार्ट ने गहन अध्ययन से; क्यों कि उसने शिक्षक के रूप में अपने जीवन के कुछ ही अंशों को विताया था। पेस्तॉलॉजी स्वभावतः प्रजातंत्रवादी तथा सुधारवादी था और लोक हित को ही अपने जीवन का प्रमुख कार्य समझा। हरबार्ट स्वभावतः अभिजाततंत्रवादी, मनोविज्ञान तथा शिक्षा-विज्ञानवादी था और निःसन्देह बौद्धिक दृष्टि से पेस्तॉलॉजी से श्रेष्ठ था। अपने जीवन का अधिकांश समय उसने शिक्षा समस्याओं के गूढ़ अध्ययन में विताया तथा पेस्तॉलॉजी के 'शिक्षा उद्देश्य—बालक और उसके शक्तियों के सम्यक विकास—को अस्वीकार किया।'

शिक्षा का उद्देश्य उसने 'सद्व्यक्तियों का निर्माण' बतलाया। अपनी पुस्तक 'द यसथेटिक प्रेजेंटेशन ऑफ द वर्ल्ड' की आरंभिक पंक्तियों ही में वह कहता है कि 'शिक्षा का एकमात्र अथवा समग्र अभिप्राय केवल एक शब्द नैतिकता में ही सन्निहित है। वह शिक्षा पूर्णत: निरर्थक है जिसमें चरित्र गठन की शक्ति न हो।'

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त:—शिक्षा उद्देश्य के प्राप्ति हेतु हरबार्ट मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित एक क्रमबद्ध शिक्षणविधि का प्रतिपादन करता है। तात्कालिक 'शक्ति मनोविज्ञान'—मस्तिष्क मानसिक शक्तियों का एक योग है और ये शक्तियाँ उसमें आरंभ ही से उपस्थित रहती हैं—को अस्वीकार किया। लॉक ने भी तो-अन्तर्विचार की सत्ता को नहीं माना था और मस्तिष्क को 'निर्मल पट' कहा। इसी प्रकार हरबार्ट का विश्वास था कि 'आत्मा अन्यान्य मानसिक शक्तियों का योग नहीं···हमें आत्मा के स्वभाव का कदापि ज्ञान नहीं, इसका ज्ञान हमें उसी समय होता है जब यह अपने को भावों, विचारों तथा इच्छाओं में प्रकट करता है; जब यह अपने को विचारों में प्रकट करता है तो हम इसे मन कहते हैं और जब भावों तथा इच्छाओं के माध्यम से तो स्वभाव ×।' अतएव मानसिक जीवन की जानकारी हेतु विचार सम्बन्धी ज्ञान अत्यावश्यक है।

उसके 'विचार' सम्बन्धी विचार:—मानव जीवन में विभिन्न वातावरणों एवं परिस्थितियों के सम्पर्क के फलस्वरूप मस्तिष्क में अनेकानेक विचार उठा करते हैं। इनमें से कुछ तो उठकर शीघ्र ही विस्मृत हो जाते हैं और कुछ चेतना धारा में रुक जाते हैं तथा अवसर पाकर अग्रगण्य भी हो जाते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि विचार

× R. R. Rusk—Doctrines of the Great Educators. P. 209.

जन्मजात नहीं होते वरन् वातावरण के सम्पर्क से उनका जन्म एवं विकास होता है।

ये विचार कई प्रकार के होते है। कुछ तो समान, कुछ असमान और कुछ विरोधी। दो या कई समान विचारों का जब संयोग होता है तो वे परस्पर समाहित हो जाते हैं; और सर्वदा हमारी चेतना में अग्रगण्य होने की चेष्टा करते हैं। असमान विचार, समान विचारों की तरह एकमय तो नहीं होते वरन् एक दूसरे से आबद्ध हो जाते हैं। अपनी पृथक्क सत्ता भी रखते हैं तथा एक दूसरे से आबद्ध भी। इसके विपरीत विरोधी विचार न तो एकमय होते हैं, न आबद्ध वरन् एक दूसरे को चेतना से हटाना चाहते हैं। इन विभिन्न प्रकार के विचारों की क्रियाशीलता प्राय: पूर्व संचित विचार अथवा ज्ञान से भी प्रभावित होती रहती है।

वास्तव में ये विचार समाज सम्पर्क में ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त होते हैं। विचारों के बार-बार उत्पन्न होने और पूर्व संचित विचार अथवा ज्ञान की सहायता से मस्तिष्क में एकत्रित होने से शनैः-शनैः एक विचार वृत्त बन जाता है। यही रुचि को जन्म देता है। रुचि भी दो प्रकार की होती है—एकोमुखी तथा बहुमुखी। इनमें बहुमुखी रुचि चरित्र निर्माण एवं समाज कल्याण हेतु अधिक उपादेय है। रुचि ही उन्नति कर इच्छा में परिणत हो जाती है। यही प्रबल इच्छा जीवन क्रियाओं की प्रेरक है। अत: जीवन क्रियायें विचारों पर ही आश्रित होती हैं। ये जीवन क्रियायें ही आचरण अथवा चरित्र की मापक हैं और निर्माणक भी। इन्हीं जीवन क्रियाओं का योग ही 'आचरण' कहलाता है। अतएव हरबार्ट के अनुसार मनुष्य का नैतिक अथवा अनैतिक, धार्मिक एवं भौतिक जीवन तथा आचरण उसके विचारों पर ही निर्भर है।

विचारों के आधार पर शिक्षण विधि:—हरबार्ट विचारों पर ही

मनुष्य के आचरण को निर्भर मानता है, अतएव विचारों को विकसित, विस्तृत तथा परिष्कृत करना नितांत आवश्यक है। इस हेतु पठन-पाठन अथवा निर्देशन उत्तम साधन हैं। इन्हीं से विचार, विचारों से विचार वृत्त, पुनः रुचि और रुचि से इच्छा, इच्छा से प्रबल-इच्छा उत्पन्न होती है; और यही आचरण का आधार है। इसी पर नैतिकता आश्रित है। अतएव विचारको बहुमुखी बनाने हेतु बालकोंको विभिन्न विषयों का ज्ञान कराना आवश्यक है। विभिन्न विषयों का ज्ञान करने-कराने की प्रक्रिया को ही निर्देशन अथवा शिक्षण कहते हैं। निर्देशन अथवा शिक्षण, शिक्षा प्रक्रिया के अन्तर्गत एक क्रिया है जो हरबार्ट के अनुसार विचार वृत्त का निर्मापक है और शिक्षा, चरित्र का। शिक्षा, शिक्षण के अभाव में अस्तित्व रहित है।

शिक्षण विधि:—अपने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर हरबार्ट ने एक ऐसी शिक्षा-पद्धति का निरूपण किया जिसके चार स्तम्भ हैं:—(१) रुचि (२) पूर्वानुवर्ती ज्ञान (३) सामान्य विधि (४) समन्वय।

रुचि—से हरबार्ट का अभिप्राय स्वक्रिया है। यह ज्ञान-अर्जन को सरल बनाती है। मस्तिष्क में नये विचारों के संचार में ऋजुता तथा दृढ़ता प्रदान करती है। यह एक मानसिक क्रिया है जो विचारों से ही प्रेरित होती है। बहुरुचि संकीर्णता को दूर कर मस्तिष्क और हृदय को उदारता प्रदान करती है। अतः विषय में रुचि की विद्यमानता तथा शिक्षक को शिक्षण क्रिया में बालकों के रुचि का ध्यान रखना अत्यावश्यक है।

पूर्वानुवर्ती ज्ञान:—बालक पूर्व विचारों के आधार पर ही नये विचार ग्रहण करता है। पूर्व विचार अथवा पूर्वानुवर्ती ज्ञान के अभाव में या तो विचार उत्पन्न ही नही होंगे, यदि उत्पन्न भी हुये तो ग्राह्य न होंगे, और यदि ग्राह्य भी हुये तो अस्थायी। अतएव शिक्षण में छात्रों को

नव विचार अथवा ज्ञान देने के पूर्व उनके पूर्वानुवर्ती ज्ञान को दृष्टि में रखना तथा उसी आधार पर नव ज्ञान देना अधिक वांछनीय है।

सामान्य विधि:-हरबार्ट के अनुसार मस्तिष्क की उपरोक्त क्रियाओं के विवेचन से यह स्पष्ट है कि मस्तिष्क नव विचारों को एक विशेष प्रकार से स्वीकार करता है। अतएव शिक्षक को छात्रों को नव विचार देते अथवा विषय सामग्री प्रस्तुत करते समय ऐसी विधि एवं रीति का सहारा लेना आवश्यक है कि ज्ञान सरलता से ग्राह्य, स्पष्ट एवं स्थायी हो सके। इसी को ध्यान में रखते हुए उसने शिक्षण हेतु कुछ विशिष्ट सोपानों को निश्चित किया जो 'पंचपद-प्रणाली' के नाम से प्रसिद्ध है:—

(अ) प्रस्तावना (ब) विषय-प्रवेश (स) तुलना एवं स्पष्टीकरण (द) सामान्यीकरण (य) प्रयोग।

समन्वय–बहुमुखी रुचि, आचरण तथा नैतिकता की अभिवृद्धि हेतु अपेक्षित है। अत: बालक को विभिन्न विषयों का समुचित ज्ञान कराना उपादेय है। किन्तु इन विभिन्न विषयों में परस्पर संबन्ध एवं सामंजस्य का होना वांछनीय है। अतएव पाठ्यक्रम में सभी विषयों का संयोजन और शिक्षण के समय विषय-प्रस्तुतीकरण में भी पर्याप्त पारस्परिक सम्बन्ध होना चाहिये।

शिक्षा और विनय*:-शिक्षण अथवा निर्देशन को सफल बनाने के लिये बालकों में विनय का होना अत्यावश्यक है। यदि बालक शिक्षण कक्ष में शान्त, दत्तचित एवं एकाग्र न रहे तो शिक्षण निष्फल होगा। अत: हरबार्ट कक्षा में विनय का पोषक है। उसकी दृष्टि में विनय एवं शिक्षा एक नहीं, दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए हरबार्ट कहता है कि

* Training and Government.

'विनय के लक्ष्य का सम्बन्ध तत्काल अथवा वर्तमान से है जब कि शिक्षा का भविष्य से। विनय का कार्य कक्ष में शान्ति स्थापन एवं छात्रों में अध्यापक के प्रति आदर भाव जाग्रत करना है, किन्तु शिक्षा का प्रत्यक्ष कार्यों द्वारा बालक के स्वभाव को सुसंस्कृत करना है। शिक्षा एक अनवरत, श्रम साध्य एवं शनैः शनैः अन्तःस्पर्शी प्रक्रिया है, किन्तु विनय अनवरत नहीं। विनय केवल कार्यों के फल को ध्यान में रखता है, परन्तु शिक्षा व्यक्ति की निश्चेष्ट अभिलाषाओं को। विनय अवांछनीय होते हुए भी आवश्यक है, किन्तु निःसन्देह अराजकता से उत्तम है। यह दुर्बलताजनक है और शिक्षा शक्ति-वर्धक। यह वाह्य प्रतिरोध एवं नियन्त्रण का प्रेरक है जब कि शिक्षा आत्म-नियन्त्रण एवं संयम विधायिनी। विनय निषेधात्मक है जब कि शिक्षा विधेयात्मक'।*

* विशेष विवरण के लिये अ० १० देखिये।

९

फ्रावेल : शिक्षा-प्रयोग में प्रगति

जीवन चरित्र—उसके दार्शनिक विचार—फ्रावेल और शिक्षा; शिक्षा संबंधी विचार (अभिप्राय एवं उद्देश्य), बालक, शिक्षा विधि एवं सामग्री, शिक्षा सिद्धान्त एवं प्रयोग की आलोचना—शिक्षा में देन एवं प्रभाव ।

जीवन चरित्र:—फ्रेडरिक फ्रावेल का जन्म सन् १७८२ ई० में दक्षिणी जर्मनी में हुआ था । नो माह की अवस्था में ही उसकी माता का देहान्त हो गया । अब घर में विमाता का राज्य हो गया जिसके दुर्व्यवहार के फलस्वरूप उसके जीवन-विकास पर कुप्रभाव पड़ा । पुन: दस वर्ष से चौदह वर्ष तक उसने अपने मामा के यहाँ सुखमय जीवन व्यतीत किया । किन्तु शिक्षण में सफलता न प्राप्त करने के कारण उसके अभिभावकों ने उसे १७९७ ई० में वन विभाग के एक अधिकारी के पास काम सीखने के लिये भेज दिया । वह कुछ काम तो न सीख सका परन्तु प्राकृतिक वातावरण में रहकर प्रकृति-प्रेमी हो गया । कुछ ही दिनों बाद १७ वर्ष की आयु में अपने भाई से मिलने 'जेना' गया और वहाँ अध्ययन लीन रहते हुए कुछ उच्च दार्शनिकों के सम्पर्क में रहने का सुअवसर प्राप्त किया । वहाँ से लौटने पर 'फ्रैंकफोर्ट' के एक नार्मल स्कूल में शिल्प-शिक्षक के पद पर नियुक्त हुआ । इसी काल से उसे अध्यापन में रुचि उत्पन्न हुई । तत्पश्चात् तीन वर्ष तक तीन बालकों के साथ पेस्तॉलॉजी के 'वरडन' की पाठशाला में कुछ समय विताया । इस निरीक्षण से इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि पेस्तॉलॉजी के शिक्षण सिद्धान्त वैज्ञानिक नहीं ।

पेस्तॉलॉजी के शिक्षण-प्रयोग एवं सिद्धान्त से निराश हो कर वह स्वयं वैज्ञानिक शिक्षण विधियों के अन्वेषण में रत हो गया । इसके

लिये एक दार्शनिक पृष्ठभूमि की आवश्यकता थी, जिसको उसने समकालीन फिशे, शेलिंग और हीगेल के विचारों में पाया, जो उस समय युरोप के मानसिक जगत् में संचरित हो रहे थे। तत्पश्चात् कुछ काल तक बरलिन के 'खनिज संग्रहालय' के अध्यक्ष के पद पर रहा और कुछ समय उपरांत इस विषय का प्राध्यापक भी हो गया। पुनः नैपोलियन के आक्रमणों से पीड़ित मातृभूमि की रक्षा हेतु सन् १८१४ ई० में सेनानी बन गया, और युद्ध भूमि के अनुभव से वह एकत्व की महत्ता का मूल्य समझा।

सन् १८१७ ई० में पेस्तॉलॉजी के 'वरडन' के पाठशाला को आदर्श मान 'कीलहाऊ' में एक स्कूल संचालित किया और उसमें प्रारम्भिक शिक्षा देने लगा। इस पाठशाला को भी सहायक अध्यापकों पर छोड़ १८३१ ई० में स्विटजरलैंड चला गया। पाँच वर्ष उपरांत उसने 'प्रारम्भिक शिक्षा के पूर्व शिक्षा' में सुधार लाने हेतु अपने को दत्तचित किया, और सन् १८३७ ई० में 'ब्लैन्केनबर्ग' नामक ग्राम में प्रथम 'किंडर गार्टेन' स्कूल खोला। शेष जीवन को अनेक किंडर गार्टेन्स के स्थापन एवं उनके शिक्षकों के प्रशिक्षण, अपने विधि के प्रसार एवं परिष्करण तथा शिक्षा सामग्रियों के निर्माण में रत कर दिया। खेद की बात है कि इतना करने पर भी उसके 'किंडर गार्टेन्स' जर्मनी में सर्वप्रिय न बन सके बल्कि समाजवादी विचारोंके प्रचार के दोषारोपण के फल-स्वरूप सभी बन्द कर दिये गये। इसका उसके हृदय पर इतना गहरा आघात पड़ा कि एक ही वर्ष बाद सन् १८५२ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

फ्राबेल के दार्शनिक विचार

स्वभावतः अन्तर्दर्शी फ्राबेल कांत, शेलिंग हीगेल और फिशे आदि के दार्शनिक विचारों से प्रभावित था। उसका विश्वास था कि एक कोई शक्ति है जो मूलतः क्रियाशील, शक्ति प्रेरक, निर्माणक

एवं स्व-चेतन है। इसे ही दार्शनिक 'आदि शक्ति' कहते हैं और धर्माचारी 'ईश्वर'। यह आदि शक्ति अथवा ईश्वर रचनात्मक कार्यों द्वारा अपना प्रकटीकरण करता है। यही इसका स्वभाव एवं गुण है। यह जड़ एवं चेतन जगत उसके प्रकटीकरण का माध्यम तथा फल है, जिसका मूल गुण विकास है। जगत के प्रत्येक वस्तु, चेतन अथवा अचेतन में 'एकत्व' है और इनमें परस्पर 'आंशिक पूर्णता' का सम्बन्ध है। इसी 'एकत्व' को हम ईश्वर भी कहते हैं। जगत के सभी वस्तुओं का मूल हम इसी एकत्व अथवा ईश्वर में पाते हैं।

'आदि शक्ति, कोई पदार्थ नहीं वरन् एक स्व-चेतन शक्ति है। इसके स्व-चेतनता में ही जगत, जीव एवं प्रकृति के उत्पत्ति तथा स्थिति का सार निहित है। इसी को फ्रावेल यथार्थ एवं आत्मिक सार कहता है। अपने पुस्तक, 'द एड्केशन ऑफ मैन' के आरंभिक पंक्तियों में वह कहता है कि 'जगत के प्रत्येक वस्तु में एक आदि नियम विद्यमान है। यह सार्वभौमिक नियम चिरंतन, शक्ति सम्पन्न, स्वचेतन, शाश्वत एवं एकत्वपूर्ण है। इसका साक्षात्कार आत्मिक शक्ति एवं विश्वास पर निर्भर है। जीवन का उद्देश्य इसी आदि शक्ति, ईश्वर तथा एकत्व आदि की अनुभूति करना है।' जगत की प्रत्येक वस्तु एवं जीव इसी 'सार्वभौमिक स्वचेतन एकत्व' के अनुरूप कार्यशील है। यही कार्यशीलता मनुष्य के अस्तित्व को महत्वपूर्ण बनाती है और उसके अंतः में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करती है।

उसके शिक्षा सम्बन्धी विचार

जीवन का उद्देश्य यदि दैवी शक्ति, ईश्वर तथा एकत्व आदि की अनुभूति करना है तो शिक्षा का कार्य मनुष्य को जीवन-उद्देश्य प्राप्ति में सहायता देना। यह तभी संभव है जब शिक्षा मनुष्य को उसके सम्बन्ध में स्पष्ट ज्ञान करावे, उसके और प्रकृति के बीच शांति स्थापित करे एवं उसके अन्तः

तथा बाह्य को समरूप बनावे। शिक्षा का कार्य बालक को विकासोन्मुख कर उसे पवित्र शुद्ध तथा श्रद्धापूर्ण जीवन व्यतीत कराना है।

बालक मूलतः एक क्रियाशील प्राणी है। उसकी क्रियाशीलता बाह्य कारणों पर निर्भर नहीं होती वरन् अन्तःप्रेरणा पर, जिसे अनुकरण की प्रवृत्ति कह सकते हैं। उसकी क्रियायें अन्तःप्रेरित ही नहीं अपितु स्वभावतः क्रमानुसार वृद्धोन्मुखी होती हैं, और उसके अन्तःजीवन से प्रत्येक क्रम में आबद्ध रहती हैं। सच तो यह है कि बालक क्रियाओं का एक शरीर या प्राणी है। एक क्रिया दूसरे की जननी है। इस प्रकार बालक क्रिया-शृखंला का ही एक दूसरा रूप है। अतः शिक्षक को यह जानना आवश्यक है कि बालक में कब नई क्रिया पूर्व क्रिया से प्रस्फुटित होती है। इस 'प्रस्फुटन काल'* का ध्यान रखते हुये उसे क्रियाओं के अनुरूप बालक की क्रियाशीलता में सहायक होना है। और निर्देशन का कार्य भी तो इसी प्रस्फुटन काल का अन्वेषण करना एवं तदनुकूल बालक की क्रियाओं को प्रोत्साहित करना है। इसी प्रस्फुटन को लॉक के शब्दों में 'विशेष तत्परताकाल' † और हरबार्ट के अनुसार 'प्रीपरेशन' कह सकते हैं।

फ्राबेल के अनुसार जगत् एक दैवी-सृष्टि है एवं ईश्वर की बाह्य अभिव्यक्ति है। 'नवजात शिशु ब्रह्म में प्रसुप्त एवं एक मय है।' वह सद्गुणी एवं स्वभावतः साधु है। अतः उसकी सर्व प्रथम इच्छा इस एकमयता एवं एकत्व को बनाये रखना है। उसकी स्वछंद क्रियायें इस इच्छा-प्राप्ति की माध्यम हैं। अपने अलौकिक गुणों को वह स्व-निश्चय एवं स्वछंद क्रियाओं द्वारा व्यक्त करता है। अतः उसके क्रियाओं में हस्तक्षेप, प्रतिरोध एवं बाधा उपस्थित करना अवांछनीय है। अतएव फ्राबेल के ही शब्दों में शिक्षा सिद्धांतः हस्तक्षेपरहित,

* Budding point. † Special Readiness.

अनिर्देशात्मक एवं अनभिसंधानित होना चाहिये, जिसमें अध्यापक निष्क्रिय, बालक का परोगामी किंतु उसका हितैषी एवं संरक्षक हो।

एकत्व का महत्व:—फ्राबेल बालक के विकास में एकत्व को बनाये रखने पर बल देता है और अपनी पुस्तक 'एडूकेशन बाई डेवलपमेन्ट' में कहता है:—

१–'ऐसा करने से हम बालक की प्रकृति से परिचित रहते हैं। २–बालक स्वयं जीवन सम्बन्धी समस्त गतिविधि का केन्द्र बिन्दु हो जाता है। ३–इसी की सहायता से शिक्षा के उद्देश्य, अभिप्राय, साधन एवं विधि के निर्वाह में सरलता आती है। ४–इस पर आधारित शिक्षा व्यावहारिक होती है। ५–ऐसी शिक्षा उस जीवन के हेतु होती है जो प्रत्यक्ष एवं अनुभव से प्राप्त उद्देश्यों की अनुभूति में सहायक है। ६–ऐसी शिक्षा जीवन के प्रत्येक काल एवं बालक के विकास की प्रत्येक अवस्था के लिए उपयोगी होती है। ७–ऐसी शिक्षा जीवन के उच्च दार्शनिक एवं नैतिक कल्पनाओं को वास्तविकता प्रदान करती है। ८–ऐसी शिक्षा निस्संदेह तत्कालीन औद्योगिक एवं सर्वहारा वर्गवादी कुप्रभावों से रक्षा करेगी, क्योंकि यह बालक के शक्ति एवं क्षमता को प्रस्फुटन शक्ति देती है और उस समय तक विकसित करती रहती है जबतक बालक के व्यक्तित्व में परिपक्वता न आ जाय।'

फ्राबेल जगत के प्रत्येक जीव, पदार्थ एवं प्रत्येक व्यक्ति के जीवन एवं विचार में एकत्व की विद्यमानता मानता है। अतः शिक्षा को भी व्यक्ति के आरंभिक जीवन से प्रस्फुटित एक प्रगतिशील एकीकरण की प्रक्रिया मानता है।

स्वक्रिया एकत्व की रक्षा का सुन्दर साधन है। क्रियाशीलता बालक की दैवी देन है जिसमें वह अपने अस्तित्व एवं सत् को पाता है। उसकी स्वक्रिया एकीकरण की प्रक्रिया का एक प्रमुख कार्य है।

अतः व्यक्ति के विकास में इसका अपरिहार्य महत्व है। उसका विकास तो उसकी सहज क्रियाओं पर ही आधारित है। अतः अन्य प्रदत्त ज्ञान व अनुभव उसे सर्वथा भार स्वरूप हैं। फ्राबेल ऐसे ज्ञान का घोर विरोध करता है और किसी प्रकार के ज्ञान के हस्तांतरण को अवांछनीय एवं अनुपयोगी मानता है।

क्रीड़ा बालक के विकास हेतु सर्वोत्तम है, क्योंकि यह स्व-क्रिया ही नहीं वरन् बालक के मौलिक आवश्यकताओं एवं आवेग का स्पष्टीकरण है। 'इस आयु में क्रीड़ा मनुष्य की सबसे पवित्र एवं आध्यात्मिक क्रिया है। यह प्रसन्नता, स्वतंत्रता, संतुष्टि, आंतरिक एवं बाह्य में एकरूपता विधायक एवं शांति सापेक्ष है। शिशुत्व केवल खेल का समय है और बालपन कार्य का। शिशु ने पहले अपने को क्रियाशील रखने के लिये जो कुछ किया उसी को बालक अब एक निश्चित फल के लिये करता है। यदि क्रियाशीलता से शिशु को आनन्द मिलता था तो कार्य से संतुष्टि।'*

शिल्प-कला बाल्यकाल की एक विशेष क्रिया है। यह अंतर्भावों के व्यक्तीकरण का माध्यम है। बालक के निर्णय शक्ति एवं ज्ञान को बढ़ाती है और मनन को प्रोत्साहित करती है। एक ओर यदि यह उसके विचार शीलता को बल देती है तो साथ ही साथ रंगों और उनके सांमजस्य का ज्ञान कराती है।

गति भी बालक के स्वाभाविक क्रियाओं का मुख्य अंग है। यही भाषा एवं संगीत का मूलाधार है। फ्राबेल के अनुसार मानव के कुछ नैतिक गुण, दृढ़ता, समता तथा आत्मनियंत्रण इसी पर आश्रित हैं।

संगीत भी रचना ही के तुल्य बालकों की स्वभाविक क्रिया है। इसके द्वारा वह अपने विचारों को प्रकट करता है। गाना तथा

* Froebel : Education of Man. P. 49

कहानी, ज्ञान देने के सुन्दर उपकरण हैं। इसे शिशु के लिये सरल तथा बालक के लिये नैतिक होना चाहिये। बालकों को प्रोत्साहित करने हेतु शिक्षक को कभी-कभी स्वयं गा देना चाहिये।

उपहार और कार्य:—* क्रीड़ा, गति एवं संगीत के अतिरिक्त फ्राबेल बालकों के लिये कुछ 'उपहार और कार्य' का आयोजन करता है जिनके चुनाव में कुछ विशिष्ट दार्शनिक तथ्य निहित हैं। बालक को कार्य शील रखने के लिये उपहार-स्वरूप खेलने के लिये कुछ खिलौने, लकड़ी, कागज़ और कपड़े आदि की बनी कुछ वस्तुयें दी जाती हैं। इन वस्तुओं के साथ जो क्रियायें होती हैं उन्हें ही कार्य कहते हैं। कुल उपहार बीस हैं जिनका वर्गीकरण और क्रम बालक के विकासानुसार है। इनमें छः मुख्य हैं। प्रथम उपहार एक गेंद है जो बालकों की सर्व प्रिय वस्तु है। यह विश्व के एकत्व का स्वरूप है। दूसरा उपहार बेलनाकार, घन, तथा गोले हैं तीसरे, चौथे और पाँचवें आदि उपहार जिनका बालक प्रयोग करता है, घन को विभाजित कर उन्हीं के आधार पर अन्य आकृतियों के बने होते हैं।

रचनात्मक कार्य:—ये कई प्रकार के हैं। इनमें गृह सम्बन्धी कार्यों का प्राधान्य है। ऐसे कार्यों को बालक स्वतः प्रतिदिन दो एक घंटे करता है। अतएवं बालकों के मिलकर कार्य करने, तथा बाग लगाने आदि से उनमें सामूहिक भावना प्रबल होती है।

इसी प्रकार **कहानी गल्प एवं कथायें** भी बालक की अत्यन्त रुचिकर वस्तुयें हैं। अतः ये शिक्षा में विशेष महत्व की हैं।

किंडरगार्टेन

उपरोक्त सिद्धान्तों को प्रयोगात्मक रूप देने के लिये फ्राबेल ने ब्लैकनबर्ग में बच्चों के लिये एक स्कूल स्थापित किया जिसका नाम किंडर

* Gifts and Occupations.

गार्टेन रखा जिसका अर्थ है 'बच्चों का बाग'। उसके अनुसार स्कूल एक बाग (गार्टेन) बालक पौधा (किंडर) तथा शिक्षक माली है। इस स्कूल में बालकों को इच्छानुसार खेलने कूदने, हँसने तथा बोलने का अवसर प्राप्त है। यहां उन्हें किसी प्रकार के दंड का भय नहीं, क्योंकि यह स्कूल से पूर्णतः बहिष्कृत है। बालक समय चक्र के चक्कर में नहीं पड़ते और न पुस्तकों के उलझन में। वे स्वक्रिया, क्रीड़ा तथा विशिष्ट रूपमे निर्मित उपहारों के द्वारा अनुभव अर्जन करते हैं। स्कूल में प्रवेश करते हुये उनका मन मलीन नहीं होता वरन् वे आह्लादित रहते हैं।

फ्राबेल के शिक्षा सिद्धान्त एवं प्रयोग की आलोचना

फ्राबेल के शिक्षा सिद्धान्त एवं प्रयोग तत्कालीन विचारकों के समालोचना के विषय बन गये। कुछ ने इसकी प्रशंसा की तो अधिक ने कटु आलोचना। यफ. डवल्यू. पारकर का कहना है कि "किंडरगार्टेन उन्नीसवीं शताब्दी का महत्त्वपूर्ण शिक्षा सुधार है।" किन्तु कोर्ट होम का कथन है कि "किंडरगार्टेन आत्मा रहित शरीर के सामान है। इसका ह्रास शीघ्र ही हो जायगा।" इसी प्रकार अनेकों के ये मत हैं:—

आलोचना:—१—शिक्षा में क्रीड़ा अथवा खेल को अधिक महत्व देने से विद्यार्थी के गम्भीर अध्ययन में बाधा उपस्थित होती है।

२—शिक्षा में रचनात्मक कार्यों को प्रधानता देना और उपयोगी ज्ञान को अनुपयोगी कहना विद्यार्जन की उपेक्षा करना है।

३—फ्राबेल के शिक्षा सिद्धान्त एवं प्रयोग में सामान्यतः आध्यात्मिक दृष्टि कोण है न कि मनोवैज्ञानिक। उसका दृष्टिकोण आध्यात्मिक और विचार काल्पनिक है। अतः विचार क्रमवद्ध नहीं और वह दार्शनिक भी नहीं कहा जा सकता।

४—शिल्पकला, धन आदि को महत्ता देना केवल गणितीय ज्ञान पर बल देना है।

५–उसका विकास–सिद्धान्त जीवन अथवा प्रकृति के प्रस्फुटन पर उचित प्रकाश नहीं डालता अपितु यह एक व्यर्थ सिद्धान्त है। यह बालक के विकास हेतु कोई निश्चित क्रम नहीं बतलाता।

६–फ्रावेल अपने शिक्षा सम्बन्धी कल्पना को इतना दूर खींच ले जाता है कि उसकी वास्तविकता की सम्भावना कम हो जाती है।

७–उसके एकत्व एवं विकास के सिद्धान्त परस्पर असम्बद्ध प्रतीत होते हैं।

८–उसके शिक्षा विचार गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों पर निर्भर हैं। अतः साधारण शिक्षक को बोधगम्य नहीं हो पाते।

९–उसके शिक्षा सिद्धान्त किंडरगार्टेन ही तक सीमित हैं। ये माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा में कार्यान्वित नहीं किये जा सकते।

इन आलोचनाओं के होते हुए भी वर्तमान शिक्षा विशेषज्ञ, फ्रावेल के सिद्धान्तों से सहमत ही नहीं वरन् प्रभावित भी हुए हैं क्योंकि इनमें कुछ ऐसे तत्व निहित हैं जो वर्तमान शिक्षा के मौलिक सिद्धान्त बन गये हैं। यही फ्रावेल की शिक्षा में महान् देन है।

उसका शिक्षा में देन एवं प्रभावः–फ्रावेल ने 'स्वाभाविक क्रिया शीलता, सहकारिता, शरीर के अङ्गों के संचालन एवं परिश्रम' को शिक्षा प्रयोग का आधार बना कर शिक्षा में कुछ नये सिद्धान्तों का सूत्रपात किया—

१–'बालक की क्रियाओं का स्वाभाविक विकास ही वास्तव में शिक्षा-आधार है।

२–अन्तःप्रेरित क्रिया ही वास्तविक विकास का उद्गम है।

३–क्रीड़ा प्रारम्भिक शिक्षा की मुख्य क्रिया है।

४–रचनात्मक कार्य, शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक उन्नयन में सामंजस्य स्थापन के प्रमुख साधन हैं।

५–विद्यालय के पाठ्य-क्रम का निर्माण बालक के जीवन के प्रत्येक अवस्था की क्रिया एवं रुचि के अनुरूप होना चाहिये।

६–मानव जाति अभी भी विकासोन्मुख है। इसके लिये शिक्षा आवश्यक साधन है।

७–जाति का भावी विकास मूलतः स्त्री शिक्षा पर निर्भर है।

८–ज्ञान साध्य नहीं वरन् यह शारीरिक क्रियाओं के साथ ही साथ स्वतः प्राप्त होता है।'*

प्रभावः—यद्यपि फ्रावेल के शिक्षा सिद्धान्त प्रायः किंडरगार्टेन शिक्षण हेतु ही प्रतिपादित हुए थे परन्तु वे आज शिक्षा के प्रत्येक अवस्था को प्रभावित कर रहे हैं। व्यक्तित्व के विकास हेतु क्रियाशीलता, सहकारिता, क्रीड़ा, रचना, आदि विशेष उपयोगी हैं और इनका सूत्रपात फ्रावेल के शिक्षा सिद्धान्तों में मिलता है। विद्यालय की प्रत्येक क्रिया एवं कार्य (मिट्टी का कार्य, काष्ठकला, नेचरस्टडी आदि) में फ्राबेल के सिद्धान्तों का पुट विद्यमान है। आधुनिक शिक्षा में सामाजिक एवं व्यावसायिक दृष्टि कोण भी फ्रावेल की ही देन है।

फ्रावेल के शिक्षा सिद्धांत एवं प्रयोग के प्रभाव बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक युरोप तथा अमेरिका में चारों ओर फैल गये। कर्नल पारकर और प्रोफेसर जॉन डीवी ने अपने अमेरिकन विद्यालयों में फ्रावेल के सिद्धान्तों का अत्यधिक प्रयोग किया। पश्चिमी युरोप में आज प्रायः सभी स्थानों पर किंडरगार्टेन सिद्धान्तों के अनुरूप शिक्षक तैयार किये जा रहे हैं। इग्लैंड में तो किंडरगार्टेन ही छोटे बच्चों की शिक्षा का मुख्य अङ्ग माना जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि आज किंडरगार्टेन शिक्षित समाज में सर्वप्रिय है।

---

* Frederick Eby : The Development of Modern Education. P. 528

१०

शिक्षा में मनोवैज्ञानिक तथ्य

मनोविज्ञान दर्शन की भाँति शिक्षा का अङ्ग—ऐतिहासिक पर्यवेक्षण : अठारहवीं शताब्दी तक शिक्षा बालहित भावना-शून्य और मनोविज्ञान भी अपूर्ण, प्रकृतिवादी आन्दोलन, बालक की परिवर्तित स्थिति, मनोवैज्ञानिक तथ्यों का शिक्षा में समावेश, शिक्षा प्राकृतिक प्रक्रिया, पेस्तालॉजी का शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाने का प्रयास. हरबार्ट का बालक की रुचि एवं विचार पर बल देना, फ्राबेल और प्रारम्भिक शिक्षा की महत्ता, बीसवीं शताब्दी में शिक्षा का आधार मनोविज्ञान, मनोविज्ञान उद्देश्य प्राप्ति का साधन, शिक्षण विधि निरूपण में सहायक।

यदि जेंटाइल का यह कथन कि, "सूक्ष्म दार्शनिक समस्याओं को बिना समझे शिक्षण उत्तम रीति से प्रतिपादित नहीं किया जा सकता," सत्य है; तो यह भी कहना अनुचित न होगा कि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के ज्ञान के अभाव में शिक्षण कार्य सफलता पूर्वक संपादित नहीं हो सकता। यदि दर्शन का प्रभाव शिक्षा उद्देश्य, सिद्धान्त एवं पाठ्य विषय निरूपण में अत्यधिक है तो मनोविज्ञान का भी शिक्षा-प्रयोग, शिक्षण-विधि एवं विनय पर कम नहीं। यदि प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने, 'सांस्कृतिक शिक्षा-व्यवस्था' का प्रतिपादन किया तो अरस्तू ऐसे शिक्षा विज्ञ ने पाश्चात्य विचार-जगत को मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का उपहार दिया। कहने का अभिप्राय यह है कि मनोविज्ञान का ज्ञान शिक्षण को प्रभावपूर्ण एवं सफल बनाने हेतु उतना ही उपयोगी है, जितना दार्शनिक तथ्यों का शिक्षा के अभिप्राय, आदर्श एवं सिद्धांत आदि निरूपण में।

ऐतिहासिक पर्यवेक्षण

शिक्षा-इतिहास के सिंहावलोकन से तो यह स्वत: स्पष्ट हो जाता है कि अट्ठारहवीं शताब्दी तक शिक्षा प्राय: एकांगी एवं अपूर्ण रही; क्योंकि इसमें मनोविज्ञान का पर्याप्त प्रवेश न था, यदि था भी तो मनोविज्ञान स्वयं अधूरा था। उस काल तक यह बालहित-भावना-शून्य, परम्परागत एवं धर्ममूलक विचारों से आबद्ध थी। अत: अमनोवैज्ञानिक के साथ ही साथ अवैज्ञानिक भी थी। मनोविज्ञान के मौलिक रूप में यों तो कुछ परिवर्तन मध्ययुग में हुआ, किंतु शिक्षा में इसका प्रभाव नहीं के तुल्य था और शिक्षा नि:सन्देह दीर्घ काल तक अमनोवैज्ञानिक ही रही। परन्तु सत्रहवीं शताब्दी के स्वअनुभववादी यर्थाथवाद * के अन्दोलन ने मनोविज्ञान के कलेवर को बदला और शिक्षण प्रयोग में भी कुछ सुधार लाया। इसी अन्दोलन ने अपने स्वाभाविक गति में प्रकृतिवादी विचारों को जन्म दिया।

प्रकृतिवाद का पैगम्बर रूसो कोई मनोविज्ञान विज्ञ तो नहीं किंतु भावुक अवश्य था। अस्तु, मानवता को बालक के रूप में त्रसित, दलित, पीड़ित एवं उपेक्षित देखकर विचलित हो उठा। अतएव उनको परम्परागत दासता के बंधन से मुक्त करने हेतु इतने उच्च स्वर से नारा लगाया कि विज्ञ जगत के प्राय: सभी प्राणी चौंक उठे और बालक को निहारने लगे। बालक की स्थिति बदली। बालक प्रौढ़ो के अध्ययन का स्वयं पुस्तक बन बैठा। बालक के अध्ययन में ही मनोविज्ञान ने पुनर्जीवन प्राप्त किया। नवीन शिक्षा का निर्माण हुआ। नवीन शिक्षा से अभिप्राय, नवीन शिक्षा उद्देश्य एवं प्रयोग से नहीं वरन् बाल-केन्द्रित शिक्षा से है। इस प्रकार बालक के शिक्षा का केन्द्र होने में ही मनोवैज्ञानिक तथ्यों का शिक्षा में पूर्ण समावेश हो गया और तभी से नव शिक्षा के आधार मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त हुए।

---

* Sense Realism.

रूसो और उसके परवर्ती विचारकों ने शिक्षा को एक कृत्रिम नहीं वरन् एक प्राकृतिक प्रक्रिया माना। शिक्षा, भाषा एवं साहित्य के कुछ विशेष अंशों में पारंगत होना अथवा किसी विशिष्ट ज्ञान का केवल अधिकार पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना नहीं, अपितु यह एक स्वाभाविक क्रिया है जिसका सम्बन्ध जीवन से है। जीवन विकास का दूसरा रूप है। अत: शिक्षा एक विकास की प्रक्रिया है। मानव के अन्त: में कुछ विशिष्ट शक्तियाँ, मौलिक क्षमता एवं स्वाभाविक गुण निहित रहते है। इनके स्वाभाविक विकास ही में शिक्षा प्रक्रिया का सार निहित है। तत्कालीन विचारकों के शिक्षा सम्बन्धी इस दृष्टिकोण ने शिक्षा में मनोवैनिक सिद्धान्तों को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया। मनोविज्ञान शिक्षा के समस्त अंगों को प्रभावित करने लगा और वह प्रभाव आज इतने व्यापक रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है कि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त ही शिक्षा के आधार बन गये हैं।

रूसो के विचारों से प्रभावित पेस्तॉलॉजी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से प्राय: अनभिज्ञ होते हुए भी मानव को मानव बनाने के लिये शिक्षण को बालक के क्रमागत विकास, क्रिया शीलता एवं स्व–इच्छित क्रियाओं पर आधारित किया। और स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'शिक्षा बालक की ईश्वर प्रदत्त आन्तरिक शक्तियों के समुचित एवं सन्तुलित विकास की प्रक्रिया है। शिक्षा कोई अधिकार पूर्ण व्याख्या नहीं वरन् इसका कार्य बालक का समुचित विकास है। अत: इसका प्रारम्भ एवं प्रगति बालक के उत्तरोत्तर विकास स्तर के अनुरूप होना चाहिये।' सारांशत: पेस्तॉलॉजी ने बालक ही को अपने शिक्षण का केन्द्रविन्दु बनाया और गर्व पूर्वक कहा कि "मैं शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाना चाहता हूं।" शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाने के लिये उसने बालक की प्रकृति को समझने और उसके अनुरूप विधि बनाने के लिये अत्यधिक प्रयास किया। तत्कालीन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त—ज्ञानेन्द्रियाँ ही समस्त

ज्ञान-संचय के सुन्दर माध्यम है,–के आधार पर उसने 'वस्तु-पाठ' को शिक्षण प्रक्रिया में महत्व प्रदान किया।

हरबार्ट ने भी बालक के रुचि पर बल दिया। रुचि एवं विचार पर आधारित अपने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रयोग शिक्षण-विधि में किया। और इन्हीं के आधार पर निर्देशन हेतु कुछ विशिष्ट सोपानों को निश्चित किया जो 'पंचपद प्रणाली' के नाम से प्रसिद्ध हुए। यह पंचपद प्रणाली अधिक दिनों तक निर्देशन की प्रमुख विधि बनी रही और आज भी रूपान्तरित हो कर प्राय: समस्त विद्यालयों में कार्यान्वित हो रही है।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक प्रारम्भिक शिक्षा के महत्त्व से प्राय: सभी अनभिज्ञ से थे और उनका ध्यान माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा की ही ओर था। फ्राबेल ने शिशु-शिक्षा पर अत्यधिक बल देकर शिक्षा योजना में प्रारम्भिक शिक्षा को प्रमुखता प्रदान किया। उसने इस हेतु 'किंडरगार्टेन' स्थापित किया। उसमें सम्बन्धित शिक्षा सिद्धान्तों एवं शिक्षण विधियों का प्रचार कर प्रारम्भिक शिक्षा की महत्ता का प्रतिपादन किया। बालकों की अन्त:प्रेरित क्रियाओं, क्रीड़ा एवं रचना को शिक्षा का मुख्य अङ्ग बताया। इन क्रियाओं के आधार मनोवैज्ञानिक तथ्य ही हैं। विद्यालय की सभी वस्तुयें—गेंद, बेलनाकार घन तथा उसके अन्य रूप—और समस्त क्रियायें—खेल गान, खेती-बारी, बढ़ईगीरी तथा सीना पिरोना आदि—मनोवैज्ञानिक दृष्टि कोण की ही देन हैं। सारांशत: मनोविज्ञान का विद्यालय में पूर्ण प्रवेश हो गया।

नव शिक्षा में मनोवैज्ञानिक तथ्यों का प्रवेश यों तो हरबार्ट, फ्राबेल आदि के द्वारा ही हो चुका था और ये शिक्षण को न्यूनाधिक मात्रा में प्रभावित भी कर रहे थे परंतु बीसवीं शताब्दी के शिक्षा विज्ञों ने इसे शिक्षा का एक आवश्यक आधार ही बना दिया। जॉन डीवी ने तो शिक्षा प्रक्रिया के दो घटकों में से एक को मनो विज्ञान ही बतलाया

है। मनोवैज्ञानिक घटक से उसका तात्पर्य बालक, उसकी स्वाभाविक शक्ति, क्षमता एवं रुचि आदि है। उसके ही शब्दों में "हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम इन्हें भली भाँति पहचानें और इन्हीं के अनुरूप उन्हें समाज सेवा हेतु उपयोग में लावें।"+ शिक्षण में रुचि की महत्ता को तो वह हरबार्ट के समान ही स्वीकार करता है किंतु उसके रुचि सिद्धांत को चुनौती देकर एक अपना नवीन रुचि सिद्धांत प्रतिपादित करता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वर्तमान शिक्षा के मूल में मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का ही महत्वपूर्ण स्थान है। आज ये ही शिक्षण एवं निर्देशन संबंधी समस्त क्रियाओं के मेरुदंड बने हुये हैं। इतना ही नहीं मनोविज्ञान, शिक्षा-सिद्धांत एवं शिक्षण-प्रयोग का उत्तरोत्तर विकास कर रहा है, जिसमें प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का विशेष हाथ है। जहाँ तक शिक्षा उद्देश्य निरूपण का प्रश्न है मनोविज्ञान निःसंदेह सहायक नहीं। उद्देश्य निरूपण, नीति एवं दर्शन शास्त्र का विषय है, मनोविज्ञान का नहीं। परंतु मनोविज्ञान इतना तो अवश्य बताता है कि निरूपित उद्देश्य प्राप्य संभव है या नहीं, यदि प्राप्य भी हुये हैं तो कहाँ तक। शिक्षण विधि के निरूपण में मनोविज्ञान का ज्ञान अपरिहार्य है। शिक्षण विधि, शिक्षार्थी एवं विषय में परस्पर संबंध स्थापित करती है। जहाँ तक इसका संबंध बालक से है इसे मनोवैज्ञानिक तथ्यों का शरण लेना पड़ता है। मनोवैज्ञानिक तथ्यों के सहायता लेने में ही अनेकानेक शिक्षण विधियों—हस्तक्षेप रहित, क्रीड़ा, ह्यूरिस्टिक, डाल्टन, अभिक्षेप आदि—का जन्म हुआ। पाठ्य-विषय के चुनाव में भी मनोवैज्ञानिक तत्वों का विशेष महत्व है। विद्यालय में खेल, क्रीड़ा, रचना आदि सम्बन्धी क्रियाओं में समस्त वस्तुयें मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही संयोजित की जा रही हैं। समय-सारिणी के विभाजन तथा पाठ्य-

+ Dewey : My Pedagogical creed—Article No. 1.

पुस्तकों के विषय-क्रम के निरूपण में भी मनोवैज्ञानिक तत्व परिलक्षित होते हैं। विनय सम्बन्धी दृष्टिकोण के परिवर्तन में भी मनोवैज्ञानिक तत्व निहित हैं। आज पाठशालाओं से दंड, ताड़ना तथा भय आदि समाप्त हो गये हैं। इनके समाप्ति के मूल कारण मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त ही हैं। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की विद्यमानता हम अध्यापक और बालक की स्थिति में भी पाते हैं। आज यदि बालक शिक्षा मंच का प्रमुख पात्र बना है और अध्यापक केवल उसका सहायक तो मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के ही फलस्वरूप। सत्य तो यह है कि मनोविज्ञान शिक्षा के प्रायः सभी अङ्गों में प्रवेश कर गया है। अतएव इसे शिक्षा का एक मुख्य आधार कहना सर्वथा उचित है।

शिक्षा में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति की विशेषतायें

१—बालक शिक्षा प्रक्रिया का एक मुख्य घटक है। शिक्षा प्रक्रिया का अभिप्राय, साधन एवं विधि उसी में निहित है। अतः शिक्षा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर ही आधारित होनी चाहिये।

२—शिक्षा एक विकास की प्रक्रिया है। उसका क्रम एवं विधि के अनुरूप ही होना चाहिये। मनोवैज्ञानिक क्रम एवं विधि के अभाव में मनोवैज्ञानिक क्रम एवं विधि विकास अवरुद्ध हो जायगा।

३–शिक्षा-विषय, सामग्री तथा विधि का चुनाव बालक के रुचि के अनुसार ही होना चाहिये।

४—चुनाव करने के लिये अध्यापक को मनोवैज्ञानिक सिद्धांतो से परिचित होना आवश्यक है।

५—शिक्षा एक व्यक्तिगत क्रिया है अतः सबको एक ही समान साथ साथ शिक्षा देना तर्क संगत नहीं। अतः व्यक्तिगत भिन्नता को ध्यान में रखकर शिक्षा का प्रबंध करना चाहिये।

६—बालक छोटा मानव नहीं वरन् मानवोन्मुख प्राणी है। अतः उससे प्रौढ़ों की भाँति व्यवहार की आशा रखना अथवा वैसा ही व्यवहार करने के लिये बाध्य करना तर्क संगत नहीं। अध्यापक को अपने प्रौढ़ता के चश्मे को उतार कर बालकों के साथ रहना एवं उनके कार्य में सहायता देना चाहिये।

७—शैशवावस्था ही विकास का महत्वपूर्ण काल है। 'बालक कैसा मानव बनेगा' की पृष्ठभूमि शैशवकाल ही में तैयार हो जाती है। अतः प्रारम्भिक शिक्षा माध्यमिक अथवा उच्च शिक्षा से अधिक महत्व पूर्ण है।

८—शिक्षा एक व्यक्तिगत क्रिया है। अतः मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति व्यक्ति को समाज से अत्यधिक महत्व पूर्ण समझती है।

९—व्यक्ति ही समाज का निर्माणक है, प्रत्येक व्यक्ति में कुछ विशिष्ट गुण निहित हैं। अतः शिक्षा समाजहित हेतु सब के लिये होनी चाहिये।

उपरोक्त मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों ने शिक्षा के कलेवर को परिवर्तित कर दिया है और बालकों के लिये अब यह अवसादमय, कष्टप्रद एवं श्रम साध्य नहीं रह गई वरन् स्वाभाविक एवं आनन्द प्रद हो गयी है।

११

शिक्षा में वैज्ञानिक प्रवृति

एवं

हरबर्ट स्पेन्सर

अ—ऐतिहासिक पर्यवेक्षण : सत्रहवीं शताब्दी में वैज्ञानिक क्रांति, दृष्टिकोण में परिवर्तन, शिक्षा पर प्रभाव, प्रचलित पाठ्य-वस्तु का विरोध, पाठ्य-वस्तु में विज्ञान का प्रवेश।

ब—हरबर्ट स्पेन्सर:—जीवन चरित्र—शिक्षा सम्बन्धी विचार उद्देश्य; पूर्ण जीवन व्यतीत करना, जीवन की आवश्यक क्रियायें, तदनुरूप पाठ्य-वस्तु, विज्ञानकी महत्ता, शिक्षण सिद्धांत, विनय सिद्धान्त का निरूपण—आलोचना-वैज्ञानिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन।

ऐतिहासिक पर्यवेक्षण:—सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी के वैज्ञानिक अनुसंधान एवं आविष्कार ने यूरोपीय जीवन में एक क्रांति उपस्थित कर दिया। भूगर्भ, वनस्पति, जीव, शरीर, रसायन एवं भौतिक शास्त्र और विज्ञान में अभिवृद्धि हुई और मानव का जीवन दृष्टिकोण बदलने लगा। डारविन का 'विकास सिद्धान्त' मंडेल का 'बंशानुक्रम नियम' जूल और मेयर की शक्ति संबन्धी गवेषणा ने मध्यकालीन अन्धविश्वास एवं परम्परागत विचारों को हिला दिया। धार्मिक हठ-वादिता तथा संकीर्णता का ह्रास होने लगा और विज्ञान की महत्ता जीवन की गतिविधि में परिलक्षित होने लगी। मध्यकालीन शक्ति मनोविज्ञान को निरर्थक सिद्ध कर, यथार्थवादियों ने निर्विकल्प एवं सविकल्प ज्ञान ही को यथार्थ माना। प्रकृति वादियों ने 'प्रकृति की ओर भाग चलो' का नारा लगाया और ऐसा प्रतीत होने लगा कि विज्ञान

जिसने मनुष्य के दृष्टिकोण को बदला नये मूल्यों की रचना भी करेगा।

ऐसी भौतिक एवं मानसिक परिस्थितियों में स्कूल में प्रचलित पाठ्य-वस्तु अनुपयुक्त सिद्ध होने लगी। लैटिन, ग्रीक, गणित तथा व्याकरण व्यक्ति के जीवन को सुखी बनाने के हेतु अनुपयुक्त समझे गये। विज्ञान के पोषक, व्यक्ति को ऐसी शिक्षा देना चाहते थे जिससे वह पूर्ण जीवन व्यतीत कर सके, और व्यावहारिक जीवन में सफल रह सके। अतः प्रचलित पाठ्य-क्रम में वैज्ञानिक विषयों को स्थान ही नहीं दिया गया वरन् उनको प्राथमिकता भी। वे विषय जो जीवन को पूर्ण बनाते हैं, जो शरीर-रक्षा में सहायक हैं, उपयोगी समझे गये। हरबर्ट स्पेन्सर और हक्सले ने इस विषय-चुनाव में 'उपयोगिता' को ही आधार बनाया।

वैज्ञानिक प्रवृति का शिक्षा में प्रवेश:–१–इस आन्दोलन के फल स्वरूप शिक्षा विधि में तो नहीं परन्तु पाठ्य–विषयों में महत्व पूर्ण परिवर्तन हुए।

२–पाठ्य क्रम में वैज्ञानिक विषयों के प्रवेश की माँग हुई। साहित्य, भाषा, कला, नीति आदि मानव के भावी जीवन को तैयार करने में अनुपयुक्त बताये गये।

३–पाठ्य वस्तु के चुनाव का आधार उपयोगिता ही निश्चित की गई।

४–विज्ञान को प्रकृति के वास्तविक ज्ञान का उपयुक्त साधन समझा गया।

५–आगमन प्रणाली वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने की सुन्दर विधि बनी।

६–व्यावसायिक ज्ञान को महत्व प्राप्त हुआ।

७–उदार शिक्षा की नवीन रूप से व्याख्या की गयी और इसे

व्यक्ति को अपने भावी जीवन को पूर्ण रूप से व्यतीत करने तथा समाज हेतु उपयोगी बनने की शिक्षा समझी गयी। ऐसी शिक्षा प्राप्त कर व्यक्ति केवल अपने व्यवसाय ही में दत्तचित नहीं रहता वरन् एक उपयोगी नागरिक होने के नाते जीवन के अन्य कार्यों में भी रुचि लेता है।

८–ऐसी शिक्षा में बालक को अपनी रुचि के अनुसार अध्ययन करने की स्वतन्त्रता प्राप्त हुई।

इस तरह वैज्ञानिक दृष्टि कोण ने शिक्षा को अत्यधिक प्रभावित किया और प्रत्यक्ष तथा स्थूल को अज्ञात तथा अदृश्य की अपेक्षा अधिक यथार्थ माना। हरबर्ट स्पेन्सर ने शिक्षा में वैज्ञानिक दृष्टि कोण का समुचित प्रतिपादन किया है। अतः उसकी शैक्षिक विचारधारा, शिक्षा उद्देश्य, पाठ्यक्रम एवं सिद्धान्त आदि के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

हरबर्ट स्पेन्सर

जीवन चरित्र:–हरबर्ट स्पेन्सर, विख्यात विकासवादी डार्विन से अवस्था में कुछ ही छोटा था। जब युरोप में औद्योगिक क्रांति बुद्धि जीवी जगत में क्रांति उपस्थित कर रही थी उसी समय स्पेन्सर ने सन् १८२० ई० में इग्लैंड में जन्म लिया। उसके पिताने आजीवन बड़े से बड़े व्यक्ति के समक्ष कभी सिर न झुकाया था। स्पेन्सर बाल्यावस्था में सुस्त एवं हठी था। उसे व्यवस्थित शिक्षा नहीं मिली। वह स्वयं स्वीकार करता है कि 'मुझे बाल अथवा युवावस्था में कभी अंग्रेजी भाषा की कोई शिक्षा नहीं मिली।' और उसके निजी साचिव कोलियर ने लिखा है कि "स्पेन्सर ने कभी भी कोई वैज्ञानिक ग्रन्थ आदि से अन्त तक नहीं पढ़ा।" उसने तेइस वर्ष की आयु में घड़ीसाजी का काम प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् रेल एवं पुलों की नाप जोख करता रहा। कुछ दिनों तक

सम्पादन कार्य द्वारा अपनी जीविका चलाया। इसकी आय सदैव अल्प ही रही। अतः उसका जीवन एकाकी एवं अविवाहित के रूप में ही व्यतीत हुआ। फलस्वरूप उसमें साधारण मानवीय गुणों का अभाव रहा।

सन् १८५८ ई० में एक लेख को दोहराते समय उसके मन में अचानक यह विचार उत्पन्न हुआ कि 'विकास-सिद्धान्त' प्रत्येक विज्ञान एवं जीव शास्त्र में लागू हो सकता है। उसकी बुद्धि प्रखर थी, और उसमें स्व-भावों को व्यक्त करने की पूर्ण क्षमता थी। अतः प्रायः सभी विषयों पर कलम उठाया। समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, जीव-विज्ञान, दर्शन एवं शिक्षा आदि किसी को अछूता न छोड़ा। शिक्षा सम्बन्धी उसकी रचना 'एडूकेशन' सन् १८६१ ई० में प्रकाशित हुई जो अपनी दृष्टि की अनोखी थी अतः उसे बड़ी ख्याति मिली। इस सर्वतोमुखी ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति की मृत्यु अन्ततः सन् १९०३ ई० में हुई।

स्पेन्सर के शिक्षा संबंधी विचार

रूसो की भाँति हरबर्ट स्पेन्सर ने समसामयिक शिक्षा पद्धति की कटु आलोचना की। उसने कहा कि बालकों की शिक्षा सामाजिक रूढ़ियों पर आधारित है। माता-पिता अथवा अध्यापक यह जानने का कभी प्रयास ही नहीं करते कि अमुक बालक के लिये कैसी शिक्षा उपयुक्त एवं उपयोगी होगी। हमारे चिंतनका मुख्य विषय हमारा जीवन ही है। शिक्षा जीवन के लिये है 'हम कैसे जीवित रहें अथवा हमें कैसे रहना चाहिये,' यही हमारे समक्ष एक मुख्य समस्या है। शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण जीवन व्यतीत करने हेतु साधन उपलब्ध कराना है। हमारी प्रचलित शिक्षा पद्धति प्रयोजनात्मक की अपेक्षा आभूषणात्मक अधिक है। यह जीवन के वास्तविक उद्देश्य की अपेक्षा बाह्य एवं कृत्रिम उद्देश्यों की प्राप्ति में ही सहायक है। ग्रीक, लैटिन एवं अन्य

कलायें; होमर एवं वर्जिल की रचनायें, इनके सुन्दर पद्यांशों के रटने एवं शब्द ज्ञान में अभिवृद्धि से बालकों को क्या लाभ ? अत: बालकों को सफल एवं पूर्ण जीवन व्यतीत करने के हेतु उपयोगी विषय का ज्ञान कराना अपेक्षित है।

स्पेन्सर के अनुसार पूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिये कुछ का आवश्यक है, जिनका उल्लेख उपयोगिता क्रम से निम्नांकित है—

१—वे कार्य जिनसे मनुष्य की स्वत: आत्मरक्षा होती है।

२—वे क्रियायें जो जीवन रक्षा हेतु आवश्यक पदार्थों को संचित कर परोक्ष रूप से रक्षा करती हों।

३—वे क्रियायें जो संतान के पालन पोषण एवं शिक्षण हेतु की जाती हैं।

४—वे क्रियायें जो सामाजिक एवं राजनैतिक कार्यक्रमों का संचालन करती हैं।

५—वे क्रियायें जो अवकाश काल में रुचि तथा भावना की संतुष्टि हेतु की जाती है।

सफल एवं पूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिये उपरोक्त क्रियायें आवश्यक हैं। मनुष्य को इन क्रियाओं को सफलता पूर्वक सम्पन्न करने के लिये तैयार होना चाहिये। अतएव शिक्षा का अभिप्राय बालक को इन्हीं क्रियाओं को सम्पन्न करने योग्य बनाना है। इस हेतु वे विषय जो आवश्यक हैं उनका उल्लेख उपरोक्त क्रियाओं के क्रमानुसार इस प्रकार हैं—

१—शरीर–विज्ञान, स्वास्थ्य–विज्ञान, भौतिक–विज्ञान एवं रसायन–शास्त्र।

२—कृषिविज्ञान, भूगर्भ विद्या एवं यंत्र विद्या।

३—मनोविज्ञान, गृहविज्ञान, बौद्धिक तथा नैतिक विकास सम्बन्धी ज्ञान।

४—इतिहास, अर्थशास्त्र, समाज शास्त्र आदि।

५–साहित्य तथा कला, संगीत, चित्र एवं मूर्ति-कला।

उपरोक्त जीवन क्रियाओं एवं उनके अनुरूप वर्णित विषयों के विवेचन से स्पष्ट है कि हरबर्ट स्पेन्सर स्व-रक्षा सिद्धान्त का पोषक है। स्वरक्षार्थ विषयों को वह प्राथमिकता देता है। इसके उपरान्त परोक्षरूप से स्व-रक्षा में सहायक विषयों को भी महत्वपूर्ण समझता है। माता-पिता को बालक के पालन पोषण के लिये माता-पिता बनने के पूर्व ही मनोविज्ञान, शरीर विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान तथा बौद्धिक एवं नैतिक विकास के नियमों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक मानता है। व्यक्ति को समाज हेतु उपयोगी, कुशल नागरिक बनने के लिए ज्ञान प्राप्त करने पर बल देता है। व्यक्ति की रुचि तथा भावनाओं को संतुष्ट करने के लिये भी कुछ विषयों को वांछनीय समझता है। सारांश यह है कि स्पेन्सर मनुष्य की उपरोक्त जीवन क्रियाओं तथा उनके अनुरूप विषयों के क्रमिक अध्ययन को सफल एवं पूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिये आवश्यक मानता है।

इस प्रकार स्पेन्सर विज्ञान को सबसे अधिक उपयोगी मानता है और इसके अध्ययन को सभी प्रकार के कार्यों के लिये आवश्यक समझता है। उसके अनुसार विज्ञान के अध्ययन से व्यक्ति की स्मरण तथा विचार शक्ति बढ़ती है। यह व्यक्ति को नास्तिक नहीं वरन् उसको नैतिक बनाता है, ईश्वर और प्रकृति में उसकी श्रद्धा बढ़ जाती है और वह संसार की समस्त वस्तुओं में एकत्व का अनुभव करता है। विज्ञान की शिक्षा व्यक्ति को आत्म निर्भर बना कर उसमें आत्मविश्वास, निश्चितता एवं दृढ़ता उत्पन्न करती है। फलतः मनुष्य अध्यवसायी हो जाता है। इसके अतिरिक्त ऐसी शिक्षा व्यक्ति को भली-भाँति वैज्ञानिक कार्य करने योग्य बनाती है। वैज्ञानिक ज्ञान, पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण एवं स्थायी होता है क्योंकि यह स्व-अनुभव द्वारा प्राप्त किया

जाता है। व्यक्ति जब स्व-अनुभव से सिद्धान्तों का निरूपण करता है और उनकी सत्यता को भी सिद्ध करना है तो उसकी विवेचन एवं तर्क शक्ति में अभिवृद्धि हो जाती है और व्यक्ति नैतिकदृष्टि से विकासोन्मुख होता है।

शिक्षा सिद्धान्तों के निरूपण में स्पेन्सर जीव-शास्त्री का दृष्टिकोण अपनाता है। वह 'पुन: स्मरण के सिद्धान्त' में विश्वास करता है और मानव जाति के ऐतिहासिक विकास एवं क्रम के अनुरूप शिक्षा देने का समर्थक है। अपनी पुस्तक 'ऑन एडूकेशन' में कहता है कि "बालक की शिक्षा की विधि एवं व्यवस्था मानव जाति के ऐतिहासिक आधार पर ही निर्भर होनी चाहिये। अथवा जातिगत ज्ञान स्रोत के अनुरूप ही व्यक्तिगत ज्ञान का अभिधान अपेक्षित है।"

अपने लेख 'मेंटल ऐडूकेशन' में वह पेस्तॉलॉजी, हरबार्ट तथा फ्राबेल के शिक्षा सिद्धातों से प्रभावित प्रतीत होता है। बालक की शिक्षा उसके मानसिक विकास की अवस्थाओं के अनुरूप बनाने के लिए कुछ शिक्षण सिद्धांतों का उल्लेख इस प्रकार करता है:—

१-सरल से कठिन की ओर २-ज्ञात से अज्ञात की ओर ३-स्थूल से सूक्ष्म ४-अनिश्चित से निश्चित ५-प्रत्यक्ष से परोक्ष ६-प्रयोगात्मक से बुद्धिपरक का ज्ञान ७-स्व-अनुभव द्वारा स्व-अर्जन तथा ८-शिक्षण विधि रुचिकर एवं मनोरंजक हो।

उक्त सिद्धांत कोई नये नहीं इनका प्रतिपादन शिक्षा में पहले ही हो चुका था। इनके आधार में मनोवैज्ञानिक तथ्य है अतएव ये शिक्षण हेतु अत्यन्त उपयोगी हैं।

स्पेन्सर का जीवन दृष्टकोण 'आनन्दवादी' था अत: उसके शिक्षा सम्बन्धी विचारों में आनन्दवाद का पुट विद्यमान है। 'आनन्दवाद' के अनुसार मनुष्य के वे आचरण सुन्दर हैं जिनका तात्कालिक एवं दूरस्थ

प्रभाव लाभप्रद है और वे आचरण तुच्छ हैं जिनका परिणाम हानिकर है। सुन्दर को ही वह सदाचार कहता है और असुन्दर को दुराचार। किसी कार्य का सुन्दर या असुन्दर होना उसके परिणाम पर निर्भर है न कि उसकी प्रेरणा पर। इसी सिद्धान्त पर स्पेन्सर एक विनय सिद्धान्त का निरूपण करता है और प्राकृतिक परिणामों को ही कार्य के सुन्दर या असुन्दर होने की कसौटी मानता है। 'यदि बालक दौड़ते हुए मेज़ से टकरा कर चोट खा जाता है तो उसे पीड़ा होती है और इसकी स्मृति से वह भविष्य के लिये सचेत हो जाता है, फिर मेज़ के सन्निकट नहीं दौड़ता।' इस प्रकार अपने ही कार्यों के परिणामों द्वारा प्राप्त अनुभव स्थायी एवं जीवनोपयोगी सिद्ध होते हैं। इस प्रकार अनुभव प्राप्त करने में बालक निषेधात्मक आदेश, दंड, ताड़ना एवं वर्जनाओं से बच जाता है। दंड, ताड़ना एवं बर्जनायें भय को जन्म देती हैं, और भय, घृणा को; फलस्वरूप व्यक्तित्व कुंठित अथवा कुसंयोजित हो जाता है।

स्पेन्सर के मत की अलोचना:—स्पेन्सर का शिक्षा उद्देश्य जीवन की पूर्णता प्रदान करना साधारणतया सुन्दर प्रतीत होता है क्योंकि इसमें जीवन के प्रायः प्रत्येक अंग पर बल दिया गया है। किन्तु इसके विवेचन से इसमें त्रुटियां दृष्टिगोचर होतीं हैं। मानव के जीवन दृष्टिकोण समान नहीं जो एक के लिये पूर्ण जीवन है वही दूसरे के लिये अपूर्ण। यदि एक आत्म-बलिदान को जीवन का लक्ष्य मानता है तो दूसरा स्वरक्षा को। स्पेन्सर का 'पूर्णजीवन' प्रायः भौतिक एवं जीव सम्बन्धी उपकरणों तक ही सीमित है। इसमें नैतिकता अथवा अन्य उदात्त गुणों का अभाव है। इनके अभाव में मानव सम्पन्न भले ही हो परन्तु उसका जीवन पूर्ण नहीं हो सकता।

बालक की शिक्षा की विधि एवं ब्यावस्था को मानव जाति के ऐतिहासिक आधार एवं जातिगत ज्ञान स्रोतके अनुरूप ही देने को

बताकर वह बालक की शिक्षा में मानव विकास की पुनरावृत्ति कराना चाहता है। यदि शिक्षा को इसी मत के अनुसार दिया जाय तो उसमें सांस्कृतिक तत्त्वों को कोई स्थान नहीं मिलता। संस्कृति युगों का अर्जित कोष है और समाज की बहुमूल्य वस्तु है। बालक समाज में उत्पन्न होकर जातीय संस्कृति से लाभान्वित होता है। इससे उसे वंचित करना उचित नहीं।

स्पेन्सर की नैतिकता आनंदवादी है। आचरण का स्रोत वह मानव की मूल प्रवृत्तियां, संवेगों एवं उन अनुभवों में पाता है, जिसे मनुष्य अपने वातावरण के सम्पर्क द्वारा प्राप्त करता है। इस मतका शैक्षिक उपसिद्धांत 'प्राकृतिक परिणामों द्वारा अनुभव' सर्वथा निषेधात्मक है। यह कुछ करने से ही रोकता है कभी सुआचरण के लिये प्रोत्साहित नहीं करता। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक परिणाम अपराध की अपेक्षा अधिक कठोर तथा मानव दंड की अपेक्षा अनियमित एवं भयंकर होते हैं। स्पेन्सर ने स्वयं ही अन्त में स्वीकार किया कि शैशवास्था में नियंत्रण आवश्यक है अन्यथा अबोध बालक खुले उस्तरे से खेलते-खेलते अपनी गर्दन भी काट सकता है।

जहाँ तक पाठ्यविषय का प्रश्न है स्पेन्सर कुछ ऐसे विषयों को बालोपयोगी बताता है जो वास्तव में उपयोगी नहीं। पालन-पोषण शिक्षण में बालक रुचि न ले सकेंगे और यह शिक्षा उनके लिये व्यर्थ सिद्ध होगी।

शरीर और स्वास्थ्य संबंधी ज्ञान ही से मनुष्य शरीर एवं स्वास्थ्य रक्षा नहीं कर सकता। शरीर एवं स्वास्थ्य विज्ञान वेत्ता डाक्टर भी अपने शरीर एवं स्वास्थ्य की रक्षा में असमर्थ सिद्ध हुए है।

हरबर्ट ने अपनी शिक्षा योजना में विज्ञान को प्रमुख, पर कला एवं साहित्य को गौण स्थान दिया है। कला एवं साहित्य मनुष्य को सौंदर्या-

नुभूति कराती है। उसे सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाती है। ज्ञान एवं धर्म की उपेक्षा करना, साहित्य, संगीत एवं कला को गौण समझना निस्सन्देह व्यक्ति को मानवी गुणों से वंचित करना होगा। सारांश यह है कि हर्बर्ट स्पेन्सर के विषयों का चयन पूर्ण जीवन व्यतीत करने में सहायक नहीं।

स्पेन्सर का प्रभाव

शिक्षा में वैज्ञानिक प्रवृत्ति के प्रसार में हरबर्ट स्पेन्सर का प्रमुख हाथ है। यों तो उसके विचारों से प्रभावित हक्सले एवं इलियट ऐसे विद्वानों ने वैज्ञानिक शिक्षा का पूर्ण समर्थन किया, किन्तु स्पेन्सर को ही शिक्षा में विज्ञान को प्रमुख स्थान दिलाने का श्रेय है। पाठ्यक्रम में भाषा, गणित साहित्य एवं कला के महत्त्व का स्थान अब विज्ञान को प्राप्त होता है और पाठ्यक्रम को जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने का प्रयत्न किया जाता है। पाठ्य-विषय का चयन उपयोगितावादी दृष्टिकोण से होता है। हक्सले तथा विज्ञान के अन्य समर्थक विज्ञान की उपयोगिता को बताते हुये वैज्ञानिक प्रवृत्ति को प्रगति प्रदान करते हैं। फलस्वरूप शनैः शनैः इग्लैंड, जर्मनी, अमेरिका फ्रांस आदि के प्रारंभिक, माध्यमिक एवं उच्च विद्यालयों में वैज्ञानिक विषयों का अध्ययन प्रारंभ हो जाता है और आज इनकी व्यापकता संसार के प्रत्येक पाठशाला में है।

१२

शिक्षा में लोकसंग्रही प्रवृत्ति

ऐतिहासिक पर्यवेक्षण: औद्योगिक क्रान्ति एवं आविष्कारों के फलस्वरूप प्रजातंत्र की भावना, सबके लिये समान अवसर एवं शिक्षा की माग, पेस्ताँलॉजी, हरबार्ट, फ्राबेल तथा स्पेन्सर के शिक्षा-उद्देश्य, पाठ्य-वस्तु, विधि में परिवर्तन—लोक संग्रही प्रवृत्तियों की विशेषता।

ऐतिहासिक पर्यवेक्षण—औद्योगिक क्रान्ति तथा वैज्ञानिक आविष्कारों ने योरोपीय जीवन में महान परिवर्तन लाया और मानव के भौतिक एवं मानसिक स्थिति में एक क्रान्ति उपस्थित कर दिया। प्रजातन्त्र की भावना जाग्रत हो उठी। इसो भावना की अभिवृद्धि ने एक ओर फ्राँस की महाक्रान्ति को जन्म दिया तो अन्य देशों में 'प्रजातन्त्र को सफल बनओ, 'नागरिकों को शिक्षित करों' की मांग उपस्थित की। फल-स्वरूप शिक्षा का प्रसार आरम्भ हुआ।

औद्योगिक क्रान्ति के कारण व्यावसायिक केन्द्रों की संख्या में वृद्धि हुई। छोटे नगर बड़े-बड़े शहरों में परिवर्तित होने लगे। गाँव के मजदूर लाखों की संख्या में कारखानों के पास आ बसे और सामूहिक जीवन व्यातीत करने लगे। इस प्रकार सामूहिकता ने स्व-अधिकार के सम्बन्ध में उन्हें अधिक चेतन कर दिया। अब वे विकास हेतु 'समान अवसर सबके लिए', की माँग करने लगे। फ्राँस निवासियों ने अपनी सरकार से इसकी जोरदार माँग की। राज्य का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना आवश्यक समझा गया क्योंकि राज्य ही शिक्षा सम्बन्धी समुचित साधन उपलब्ध करानेका उत्तरदायी होता है।

प्रशा के राजा फ्रेडरिक् दी ग्रेट और आष्ट्रिया की रानी मेरिया थेरिसा

का ध्यान इस ओर सर्व प्रथम आकृष्ट हुआ। फ्रेडरिक् ने शिक्षा-सम्बन्धी आदेश में अपने राज्य के कर्मचारियों को सम्बोधित करते हुए कहा कि "प्रत्येक कर्मचारी का कार्य एवं कर्तव्य पाठशाला के बालकों में आस्तिकता एवं अन्य उपयोगी लक्ष्यपूर्ति के हेतु यौक्तिक तथा सर्वहितेषु शिक्षा की नींव डालना है।" सन् १७९० में वाशिंगटन ने अपना संदेश दिया कि "प्रत्येक देश की सुख-समृद्धि का आधार निसंदेह शिक्षा ही है।" इसी प्रकार अमेरिका के टॉमस जेफर्सन ने १७८६ ई० में कहा था, "स्वतंत्रता सुशिक्षित नागरिकों द्वारा ही सुरक्षित रह सकती है। अतएव राज्य का कर्तव्य है कि वह सबको शिक्षित करे।" तदोपरान्त अमेरिका के तृतीय राष्ट्रपति जेम्स मेडीसन ने कहा, 'जनप्रिय सरकार सर्व सुलभ शिक्षा एवं सूचना के अभाव में एक खेल मात्र है। अतः स्वतंत्रता के पश्चात् राज्य का सर्वप्रथम कार्य नागरिकों का बौधिक विकास करना है।'

प्रजातंत्र की भावना ने व्यक्ति को समुचित विकास का अवसर देने एवं समाज के हेतु उपयोगी नागरिक बनाने पर बल दिया। इसके लिए शिक्षा ही उपयुक्त साधन थी। अतः शिक्षा की ओर सभी का ध्यान आकृष्ट हुआ। कुछ विचारकों ने शिक्षा को केवल व्यक्तिगत उन्नयन ही तक सीमित रखा और कुछ ने व्यक्तिगत उन्नयन को समाज हित सापेक्ष समझा।

पेस्तॉलॉजी ने अपनी आरंभिक रचनाओं में समाज उपेक्षित एवं अनाथ बालकों की अवस्था को सुधारने के लिए एक विशिष्ट शिक्षा विधि का निरूपण किया। उसकी रचनाओं में लोकहित भावना का प्राधान्य है। वह समाज की कुरीतियों एवं दोषों को दूर करने के लिये शिक्षा को उपयुक्त साधन समझता है। अतः असहाय बालकों को परिश्रमी तथा स्वावलम्बी बनाकर उनके जीवन में सुधार लाना चाहता है। उसकी रचना 'ल्योनार्ड एवं गरट्रूड,' में एक सरल ग्रामीण जीवन

का मनोहर चित्रण है, यह उसके लोकसंग्रही दृष्टिकोण का प्रत्यक्ष प्रमाण है। ल्योनार्ड एक आलसी एवं मद्यप पति है। उसकी पत्नी गरट्रूड धैर्य एवं निपुणता से अपने बच्चों का पालन-पोषण करती एवं शिक्षा देती है। अनन्तोगत्वा अपने पति एवं गाँव में सुधार लाती है। इस प्रकार उसके जीवन का सर्व-प्रथम लक्ष्य शिक्षा द्वारा समाज का पुनरुत्थान करना था।

हरबार्ट का शिक्षालक्ष्य व्यक्ति को सद्गुणी एवं नैतिक बनाना था। व्यक्ति की नैतिकता समाज सम्पर्क में सर्वदा कल्याणकारी होती है। हरबार्ट नैतिकता प्राप्ति के हेतु मानव जाति के संचित अनुभव एवं ज्ञान को आवश्यक समझता है और इन्हीं को पाठ्यक्रम में महत्ता देता है। मानव जाति के संचित ज्ञान के प्राप्त करने में ही बालक अतीत की सामजिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। उससे लाभान्वित होकर स्वयं नैतिक, सद्गुणी, सामाजिक तथा समाजोपयोगी सिद्ध होता है।

फ्रावेल का किंडर गार्टेन समाज का ही एक छोटा रूप है। इसकी सामग्री एवं क्रियायें समाज सम्बद्ध हैं। फ्रावेल का भी लक्ष्य शिक्षा द्वारा समाज सुधार ही था। सामाजिक क्रियाओं में दक्षता प्राप्त करने ही के लिए वह किंडरगार्टेन्स के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। सामाजिक प्रवृत्तियों के दोषारोपण के फलस्वरूप ये किंडरगार्टेन्स जर्मनी में दस वर्ष तक बन्द कर दिए गये थे। उसी काल में कांत और फिशे के शिक्षा सम्बन्धी दर्शन में भी व्यक्ति और समाज में सामंजस्य स्थापन के विचार विद्यमान हैं।

हरबर्ट स्पेन्सर वैज्ञानिक प्रवृति का प्रवर्तक था; फिर भी उसका दृष्टिकोण सामाजिक ही है। उसने शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के जीवन को पूर्ण बनाना बतलाया और उसी हेतु वैज्ञानिक विषयों को पाठ्यक्रम

में महत्व प्रदान किया। उसके दृष्टिकोण में व्यक्ति ही केन्द्र बिन्दु था न कि समाज। परन्तु समाज व्यक्तियों का ही तो एक सामूहिक रूप है। अत: व्यक्ति के विकास एवं उन्नयन में समाज का विकास एवं उन्नयन स्वत: हो जाता है। इस प्रकार व्यक्तिवादी होते हुए भी स्पेन्सर लोक संग्रह का पोषक प्रतीत होता है। पाठ्यक्रम में वह जीवन-रक्षार्थ विषयों पर ही बल देता है। ऐसे विषय वह हैं जो जीवनोपयोगी हों। जो विषय एक के लिए उपयोगी होगा वही दूसरे के लिए भी। अस्तु इस प्रकार उसके पाठ्यवस्तु चयन में भी समाज-कल्याण तथा लोक संग्रह की भावना परिलक्षित होती है। अब तक मता-पिता बालक को सफल जीवन, तथा धर्मनिष्ठ आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने योग्य बनाना चाहते थे और इनका दृष्टिकोण पूर्णत: व्यक्तिवादी था, परन्तु स्पेन्सर अथवा इस युग के अन्य विचारकों का दृष्टिकोण व्यक्ति-उन्नयन को समाज-उन्नयन तथा लोक संग्रहसापेक्ष बनाना है।

शिक्षा में लोकसंग्रही प्रवृत्तियों की विशेषता

उपर्युक्त पर्यवेक्षण से यह विदित होता है कि शिक्षा में लोकसंग्रही प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक के साथ ही साथ होता है। व्यक्ति ही मनोवैज्ञानिक का केन्द्रबिन्दु है। अत: मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति व्यक्ति ही के विकास एवं उन्नयन तक सीमित है। लोक संग्रही व्यक्ति को समाज हितोन्मुखी बनाती है। इसका लक्ष्य समाज है न कि व्यक्ति। वैज्ञानिक प्रवृत्तियां शिक्षा में पाठ्य-विषय पर ही बल देती हैं और इसके द्वारा व्यक्ति को सफल जीवन व्यतीत करने योग्य बनाना चाहती हैं; जब कि लोकसंग्रही व्यक्ति में इस रूप में योग्यता उत्पन्न करना चाहता है कि वह समाज के हेतु अधिकाधिक उपादेय हो सके।

मनोवैज्ञानिक शिक्षा को व्यक्ति के विकास की प्रक्रिया मानते हैं, और शारीरिक क्रियाओं को विकास के लिए आवश्यक समझते हैं। ये

प्रत्येक दशा में शिक्षा विधि को ही महत्ता देते हैं। लोकसंग्रही शिक्षा को समाज के विकास की प्रक्रिया मानते हैं। वे शिक्षा का मूल्यांकन सामाजिक गठन, क्रियाओं एवं आवश्यकताओं के दृष्टिकोण से करते हैं। मनोवैज्ञानिक केवल व्यक्ति ही की सफलता पर दृष्टि लगाये रहते हैं, जबकि लोकसंग्रही उसकी समाज में उपयोगिता पर।

मनोवैज्ञानिक व्यष्टि को प्रधान मानता है उसके पश्चात् समष्टि; जब कि लोक संग्रही समष्टि के समक्ष व्यष्टि की तिलांजलि दे सकता है। इसी को दृष्टि में रखकर उनकी शिक्षा व्यवस्था होती है।

इसके उपरांत लोकसंग्रही प्रारम्भिक शिक्षा से उच्चतम् शिक्षा तक उन्हीं विषयों को पाठ्यक्रम में स्थान देते हैं जो व्यक्ति एवं समाज में सामंजस्य स्थापित कर सकें, जो उसे सुन्दर नागरिक बनावें और प्रत्येक दृष्टि से समाज के उन्नयन में सहायक हों। ऐसे विषय अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, नागरिकशास्त्र एवं नीतिशास्त्र आदि हैं; किन्तु इनके अतिरिक्त वे विषय भी महत्व पूर्ण हैं जो व्यक्ति को आर्थिक दृष्टिकोण से स्वावलम्बी बनाते हैं। वैज्ञानिक भी पाठ्य-वस्तु पर ही बल देते हैं और उन्हीं विषयों को महत्वपूर्ण समझते हैं जो व्यक्ति को पूर्ण एवं सफल जीवन व्यतीत करने हेतु उपयोगी हों। उनका दृष्टिकोण सर्वदा व्यक्ति की सम्पन्नता है किन्तु लोक संग्रही की दृष्टि में समाज की सम्पन्नता।

लोकसंग्रही विचारधारा के अनुसार शिक्षा सामाजिक विकास-प्रक्रिया है। अतः लोकसंग्रही शिक्षा को सबके लिए उपलब्ध होना आवश्यक समझता है। १–इसी विचार धारा ने सार्वलौकिक एवं मुक्तशुल्क शिक्षा को जन्म दिया है। २–इसी विचार धारा के फलस्वरूप आज शिक्षा के प्रत्येक अवस्था में व्यावसायिक, व्यावहारिक एवं हस्तकौशल की शिक्षा को प्रधानता मिल रही है।

१३

शिक्षा में समाहारक प्रवृत्ति

ऐतिहासिक भूमिकाः—रूसो का बाल केन्द्रित शिक्षावाद, पेस्तॉलॉजी का क्रिया एवं अनुभव पर बलः हरबार्ट का मनोवैज्ञानिक शिक्षण, पाठशाला समाज का लघुरूप, वैज्ञानिक विषयों का पाठ्यक्रम में महत्व—आधुनिक शिक्षा में अनेकानेक शिक्षा सम्बन्धी विचारों प्रवृत्तियों सिद्धान्तों प्रयोगों का समन्वितरूप ही समाहारक प्रवृत्ति—इसकी विशेषतायें।

ऐतिहासिक भूमिकाः—पूर्व पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि रूसो ने प्रचालित परम्परागत शिक्षा का घोर विरोध किया। उसने शिक्षा को जीवन की एक प्रक्रिया घोषित किया और शिक्षा में बालकेन्द्रित शिक्षावाद को जन्म दिया। तत्पश्चात् पेस्तॉलॉजी ने शिक्षा को एक अंत: प्रेरित विकास माना। बालक की क्रियाशीलता एवं अनुभव को ही इस विकास का आधार समझा। अतएव 'बालक से सहानुभूति रखो, उससे प्यार करो' को शिक्षण विधि का सर्वप्रधान अंग एवं उपकरण घोषित किया। हरबार्ट ने शिक्षण को मनोवैज्ञानिक बनाया और पाठ्य-विषय के निरूपण हेतु एक मनोवैज्ञानिक आधार का प्रतिपादन किया। फ्राबेल ने बाल-स्वभाव की व्याख्या की, और उसकी स्व-क्रियाओं पर बल देते हुए अतीत से संचित जातीय अनुभव से उसे अवगत कराना आवश्यक समझा। अत: उसने विद्यालय को समाज का ही लघुरूप प्रदान किया। हरबर्ट स्पेन्सर शिक्षा को जीवन को पूर्ण एवं सफल बनाने का साधन मानता है और पाठ्य-क्रम में वैज्ञानिक विषयों को ही प्राथमिकता देता है।

इस प्रकार इन शिक्षाविदों के शिक्षा-सिद्धांत एवं प्रयोगों के

फलस्वरूप मनोवैज्ञानिक प्रवृति शिक्षा में पूर्णतः प्रवेश कर गयी। उसने शिक्षा विधि को अत्याधिक प्रभावित कर उसमें कुछ विशिष्ट सुधार किया। वैज्ञानिक प्रवृति ने उदार शिक्षा को एक नये ढंग से परिभाषित किया। लोक संग्रही प्रवृतिने शिक्षा को समाज उन्नयन की प्रक्रिया बतलाया और शिक्षा का उद्देश्य अच्छे नागरिक उत्पन्न करना माना। इतना ही नहीं शिक्षा की प्रत्येक अवस्था से व्यावसायिक, व्यावहारिक एवं हस्त-कौशल की शिक्षा को सम्बद्ध किया। फलतः इन्हीं अनेकानेक शिक्षा संबंधी विचारों, सिद्धान्तों, प्रयोगों, एवं विधियों का समन्वय हम आधुनिक शिक्षामें पाते हैं।

समाहारक प्रवृत्ति से अभिप्रायः—अट्ठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में समाज संगठन, मानव जीवन एवं उसके दृष्टि कोण में एक क्रांति उपस्थित हुई। एक नवीन सभ्यता का उदय होने लगा। शिक्षा विज्ञों के शिक्षा सिद्धांत एवं प्रयोग सम्बन्धी विचारधारायें एवं तत्संबंधी प्रवृतियां पहले से ही शिक्षा को प्रभावित कर रही थीं। भिन्न-भिन्न आदर्शों से पूरित नव सभ्यता ने शिक्षा को और भी प्रभावित किया। शिक्षा को भी एक नव गति मिली। अतएव इस संक्रांतिकालकी शिक्षा में प्रायः समस्त प्रवृतियां एवं नव समाज के नव आदर्शों का सामंजस्य मिलता है। आधुनिक शिक्षा सिद्धांत एवं शिक्षण प्रणाली मे भी यही सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है। शिक्षा में इन्हीं सारतत्त्वों के संकलन अथवा विद्यमानता को शिक्षाविदों ने 'समा हारक प्रवृति, की संज्ञा प्रदान की। आज की शिक्षा प्रणाली का कोई एक स्रोत नहीं। यह किसी युग, व्यक्ति अथवा देश विशेष की देन नहीं वरन् सभी प्रवृत्तियों का समन्वित रूप है।

आधुनिक शिक्षा में समाहारक प्रवृत्ति

१—वास्तव में समाहारक प्रवृति कोई नवीन विचार धारा नहीं वरन् अनेकों शिक्षा प्रवृत्तियां का सामंजस्य प्रधान रूप है।

२–अनेकानेक प्रवृत्तियों के प्रवेश के फल स्वरूप शिक्षा के प्रत्येक अंग में कुछ विशेषतायें दृष्टगोचर होती हैं और ये इसको एक नव गति प्रदान करती हैं।

३–शिक्षा में पाठ्यक्रम, सामाजिक क्रियाओं एवं भावों के व्यक्तीकरण का एक माध्यम होता है। अस्तु अब पाठ्यक्रम रूढ़िगत नहीं रह गया वरन् सामाजिक अवस्था एवं विचारों में परिवर्तन के तदनुकूल उसमें भी परिवर्तन होता जा रहा है।

४–शिक्षा प्रयोग एवं शिक्षणविधि अब निश्चित, वैज्ञानिक एवं सर्वमान्य होती जा रही हैं। इस हेतु शिक्षक का प्रशिक्षण अनिवार्य सा हो गया है।

५–शिक्षक को नवीनतम् शिक्षण विधियों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो गया है। शिक्षण विधि में यथावश्यकता सुधार अपेक्षित है।

६–विशिष्ट विषयों केलिए विशिष्ट विद्यालयों का निर्माण हो रहा है।

७–शिक्षण कार्य को सफल एवं प्रभावशाली बनाने के हेतु विशिष्ट विषय के विशेष प्रशिक्षण पर बल दिया जा रहा है।

८–अब शिक्षण कार्य को हर एक शिक्षित व्यक्ति सम्पादित नहीं कर सकता वरन् विशेषज्ञ ही। अब यह एक निश्चित व्यवसाय हो गया है।

९–आधुनिक शिक्षा में 'रूचि और प्रयत्न'* का समन्वय है। आज शिक्षा के लिए रूचि का उत्पन्न करना आवश्यक समझा जाता है किन्तु प्रयत्न के विना रूचि शरीर रहित आत्मा है। अतः रूचि एवं प्रयत्न दोनों पर पर्याप्त बल दिया जा रहा है।

१०–विनय और स्वतंत्रता में भी सामंजस्य स्थापित करते हुए

---

* Interest and Effort

स्व-नियंत्रण, स्व-शासन एवं स्व-निग्रह पर बल दिया जा रहा है। साथ ही साथ आज के शिक्षाविद् बालक को अन्वेषण हेतु प्रोत्साहित करने एवं पर्याप्त स्वतंत्रता देने के पक्ष में हैं।

११–आज शिक्षा धार्मिक रूढ़िवादिता एवं अन्य धार्मिक बन्धनों से मुक्त लौकिक हो गई है। इसके फलस्वरूप धर्म-शिक्षा सम्बन्धी समस्या भी उठ खड़ी हुई है।

१२–शिक्षा का उत्तरदायित्व राज्य पर है। अतएव शुल्कमुक्त शिक्षा का विधान हो रहा है। इतना ही नहीं राज्य अनिवार्य जन-शिक्षा को कार्यान्वित करने के ओर उन्मुख है।

१३–अब अंगविहीन व्यक्तियों के शिक्षा का भी आयोजन हो रहा है।

१४–व्यावसायिक शिक्षा पर अब अधिक बल दिया जा रहा है।

१५–एक ऐसी शिक्षा की व्यवस्था हो रही है जो बालक को शिक्षा काल में आर्थिक दृष्टिकोण से स्वावलंबी बनावे।

१६–अब पाठशाला समाज का ही एक लघु रूप बनता जा रहा है।

१७–पाठशालाओं की क्रियायें दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। अब पाठशाला का कार्य केवल कुछ विशिष्ट विषयों में ही पारंगत करना नहीं है, वरन् बालक में ऐसी आदत डालना है कि वह अधिकाधिक समाजोपयोगी बन सके।

१८–शिक्षण प्रणाली पूर्व निश्चित नहीं वरन् यह बालक के रूचि एवं शिक्षण-परिस्थितियों के अनुरूप सर्वदा गतिशील है।

१९–आज शिक्षा का कार्य भावी जीवन की तैयारी नहीं वरन् यह स्वयं एक जीवन प्रक्रिया है।

२०–शिक्षा अब बालक के लिये नीरस अनाकर्षक एवं दुःखपूर्ण

नहीं रह गई वरन् सरस, आकर्षक एवं आनन्द विधेयक हो गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाहारक प्रवृति कोई एक अलग एव नवीन प्रवृति नहीं वरन् यह विभिन्न प्रवृत्तियों—मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक एवं लोक संग्रही—का ही एक समन्वित रूप है। इसकी विशेपता यह है कि अन्यान्य प्रवृत्तियों का सार ग्रहण कर इसने आधुनिक शिक्षा प्रणाली को ऋजुमार्गी एवं समाज सापेक्ष बना दिया है।

१४

शिक्षा में प्रयोजनवाद

अ–सुकरात, अरस्तू, लॉक, बर्कले, ह्यूम के विचारों में प्रयोजन वाद आंशिक रूपमें विद्यमान; पियर्स ने 'प्रैगमेटिज्म' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम दर्शन में किया; अमेरिका में नवागन्तुक प्यूरिटन्स का लाभपूर्ण कार्य करने की प्रवृत्ति से इस विचारधारा को बल मिला।

ब–प्रयोजनवाद : प्रत्यक्षवाद का अंश, संसार पूर्व निर्मित नहीं वरन् परिवर्तनशील, वास्तविकता अथवा मूल्य पूर्व निर्धारित नहीं, मनुष्य ही जीवन मूल्य का निर्माता—प्रयोजनवाद के तीन रूप : मानवीय, प्रयोगात्मक एवं जीव शास्त्रीय—सत्य यन्त्रवत नहीं—मानव लक्ष्य ही महत्वपूर्ण, विचार क्रिया का प्रति फल।

स–विचार का आधार क्रिया, दर्शन शिक्षा प्रयोग का प्रतिफल शिक्षा-उद्देश्य पूर्व निश्चत नहीं; शिक्षा का लक्ष्य सर्वद तात्कालिक; वाह्य हस्तक्षेप तथा निर्देशन अवांछनीय—शिक्षा प्रयोग ही प्रधान–शिक्षण प्रणाली प्रयोगात्मक, स्व-क्रिया द्वारा सीखना, अभिक्षेप पद्धति सर्वमान्य—पाठ्य विषयों का वर्गीकरण उचित नहीं, सीखने के क्रम में एकीकरण वांछनीय, रुचि द्वारा विनय।

यह एक नवीन अमेरिकी विचारधारा है। इस विचार धारा का स्रोत हम कोंत के 'व्यावहारिक तर्क' शोपेनहीयर के 'महत्वाकांक्षा की प्रबलता' तथा डार्विन के विचार 'योग्यतम् ही टिक सकता है' में पाते हैं। विलियम जेम्स ने इस शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अपनी पुस्तक 'प्रैगमेटिज्म' में लिखा है कि "यह शब्द ग्रीक भाषा के 'Npayua' शब्द से उद्भूत है जिसका अर्थ 'Action' होता है। इसी शब्द से 'Practice' और 'Practical' शब्द बने हैं। इस शब्द को चार्ल्स

पियर्स ने अपने लेख 'हॉऊ टू मेक ऑवर आइडियाज़ क्लीयर' में लिख कर सन् १८७८ ई० में सर्वप्रथम दर्शन में प्रयोग किया।"† जेम्स का प्रैगमेटिक मेथड के सम्बन्ध में कथन है कि 'इसमें कोई नवीन बात नहीं सुकरात इस पद्धति के प्रयोग में प्रवीण था। अरस्तू ने इसका प्रयोग विधिवत किया है। लॉक बर्कले और ह्यूम ने इसी पद्धति द्वारा सत्यान्वेषण किया। किन्तु इन विचारकों ने प्रयोजनवाद (Pragmatism) का आंशिक प्रयोग ही किया और निःसंदेह वे केवल पथ प्रदर्शक मात्र ही हैं।' 'प्यूरिटन्स' जब इस अपरिचित देश अमेरिका में आ बसे तो उनके सन्मुख अनेक समस्यायें उपस्थित हुई। ये समस्यायें नवीन थी और उनके समाधान हेतु उनके पास पूर्वनिर्धारित उपाय न थे। अतएव इस नवीन परिस्थिति के अनुसार समस्याओं के निराकरण हेतु नये-नये उपायों तथा साधनों के अन्वेषण द्वारा नव आदर्शों की स्थापना हुई। फलस्वरूप उन्होंने कतिपय जीवन-सिद्धान्तों का निर्माण किया। इन समस्यायों के सुलझाने में ही शनैः शनैः अमेरिका निवासियों में लाभपूर्ण कार्य करने की प्रवृत्ति सी हो गई और इसी के अनुरूप जीवन दृष्टिकोण भी। विलियम जेम्स ने इस उपयोगितावादी विचारधारा को अत्यधिक बल दिया और जॉन डीवी ने इसका शिक्षा में पूर्ण प्रयोग किया।

प्रयोजनवाद:—प्रयोजनवादी विचारधारा का प्रादुर्भाव प्रकृतिवाद एवं हीगेल के आदर्शवाद के विरोध में हुआ। यह प्रत्यक्ष-वाद का एक अंग है। प्रत्यक्षवाद के अनुसार संसार वास्तविक है किन्तु पूर्व निर्मित एवं पूर्ण नहीं। यह परिवर्तनशील अपूर्ण एवं अव्यवस्थित है। मनुष्य इसको अपनी आवश्यकतानुसार सर्वदा से बनाता आ रहा है। अतः यह सतत् परिवर्तनशील, उन्नतिशील एवं विकासोन्मुख है।

इस विचार धारा के अनुसार वास्तविकता अपूर्ण है और पूर्णता

† Prof. James : Pragmatism P. 46–47.

प्राप्ति की ओर उन्मुख है। शीलर का कथन है कि 'वास्तविकता अभी निर्मित हो रही है कोई भी वस्तु पूर्णत: व्यवस्थित नहीं है। मानव कार्य सत्यान्वेषण के हेतु केवल प्रयोग मात्र हैं अत: विश्व-निर्माण में सहयोग देना हमारा कर्त्तव्य ही नहीं वरन् अधिकार भी है।' इसके विपरीत प्रकृतिवादियों की दृष्टि में वास्तविकता पूर्वनिर्मित है एवं अनादि काल से प्रत्येक दृष्टिकोण से पूर्ण भी है।

वास्तविकता का अभी निर्माण हो रहा है, अतएव प्रयोजनवाद उच्चतम् मूल्य की पूर्व-स्थिति को स्वीकार नहीं करता अर्थात् मनुष्य के लिये उच्चतम् मूल्य पहले से ही निश्चित नहीं है। मनुष्य अपना मूल्य स्वयं बनाता है। इस विचारधारा के अनुसार कोई भी सुनिश्चित एवं शाश्वत सत्य नहीं है। सत्य एक क्रम है जो विचारों में घटित होता है। 'इन विचारों का आविर्भाव कैसे होता है, अथवा इसकी विशेषतायें क्या हैं ?' यह न पूछ कर प्रयोजनवाद इस के फल की परीक्षा करता है। इसका विशेष ध्यान भविष्य की ओर होता है। वास्तव में इसका अभिप्राय भविष्य-चिन्तन तथा अन्तिम फल अथवा ध्येय का विचार करना ही है। विद्वद्वाद* के समान प्रयोजनवाद 'यह क्या है?' नहीं पूछता वरन् पूछता है कि 'इसका फल क्या है ? परिणाम क्या है ? कार्य क्या है ? भविष्य कैसा है ?'

प्रयोजनवाद के तीन रूप

अ–मानवीय प्रयोजनवाद (Humanistic)

ब–प्रयोगात्मक प्रयोजनवाद (Experimental)

स–जीव शास्त्रीय प्रयोजनवाद (Biological)

प्रयोजनवाद के अनुसार, अ–मानवीय सत्य वही है जो मनुष्य की इच्छाओं एवं आवश्यकताओं को पूर्ण करती हो तथा उसके जीवन को सम्पन्न बनाती हो। ब–प्रयोगात्मक

* Scholasticism.

प्रयोजनवाद के अनुसार वही सत्य है जो प्रयोग द्वारा सत्य सिद्ध किया जा सके। स-जीव शास्त्रीय प्रयोजनवाद मानव की उन इच्छाओं एवं योग्यताओं का प्रतिपादन करता है जो मानव को अपने वातावरण के अनुरूप तथा वातावरण को उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने में सहायक होती हैं। इन सिद्धान्तों के प्रमुख विचारक विलियम जेम्स, शीलर, एवं जॉन डीवी हैं।

प्रयोजनवाद, प्रकृतिवादी सिद्धान्त—' मनुष्य की आवश्यकतायें ' आशायें एवं प्रयत्न नगण्य हैं, तथा सत्य व्यक्तित्व रहित एवं यन्त्रवत है—को अस्वीकार करती है। यह विश्व की उद्देश्य पूर्ण प्रतिक्रियाओं में, जिसने मानव जीवन के संघर्ष को महत्व प्रदान किया है, विश्वास रखता तथा उनका प्रतिपादन करता है। प्रयोजनवाद प्रकृतिवादियों के कारणवाद के स्थान पर मानव-लक्ष्य को ही महत्व देता है क्योंकि मानव-इच्छा के द्वारा ही अनुभूतियों की प्राप्ति होती है।

प्रयोजनवाद के अनुसार यद्यपि संसार परिवर्तनशील है तथा सत्य का निर्माण हो रहा है फिर भी विश्व-रचना एवं सत्य निर्माण में सहयोग प्रदान करना मनुष्य का प्रधान कर्त्तव्य एवं अधिकार है। अतः इस विचारधारा में कार्य, अभ्यास, प्रयोग एवं उद्देश्य पूर्ण हस्तक्षेप ही वास्तविकता का मूल है। मानव-प्रयास ही महत्वपूर्ण हैं क्योंकि ये ही सत्य को सम्पन्न बनाते हैं। विचार एवं सिद्धान्त वास्तविकता के केवल प्रतिफल ही नहीं वरन् मनुष्य के रचनात्मक कार्यों के परिणाम होते हैं।

शिक्षा में प्रयोजनवाद

प्रयोजनवादी विचार धारा, विचार एवं सिद्धांत को वास्तविकता का प्रतिफल मानती है। उसके अनुसार ये मनुष्य के रचनात्मक कार्यों

के परिणाम स्वरूप हैं। प्रयोजबादी मनुष्य में पूर्व ही से किसी प्रकार के ज्ञान की विद्यमानता नहीं मानते। अतः दर्शन का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं, यह शिक्षा क्रिया से निसृत सिद्धांतों का ही व्याख्यात्मक रूप है। डीवी के कथनानुसार' दर्शन अपने सर्वमान्य रूप में शिक्षा सिद्धांत ही है। यह विश्वास कि शिक्षा दर्शन का गतिशील पहलू है, ठीक नहीं। दर्शन निःसन्देह शिक्षा-प्रयोग का प्रतिफल है।' इस प्रकार शिक्षा क्रिया से ही शिक्षा सम्बन्धी विचार एवं आदर्श उद्भूत होते हैं। शिक्षा ही उन जीवन-मूल्यों की जन्मदायिनी है जो अन्ततोगत्वा दर्शन का रूप धारण कर लेते हैं।

प्रयोजनवादी विचार धारा का विश्वास किसी परम सत्य अथवा पूर्व निश्चित जीवन मूल्यों की विद्यमानता में नहीं। अतः आदर्शवादियों के समान प्रयोजनवादियों की दृष्टि में शिक्षा में आध्यात्मिक एवं शाश्वत मूल्य नहीं। शिक्षा प्रयोगावस्था में स्वतः नव मूल्यों को जन्म देती है। वे बौद्धिक, सौन्दर्यात्मिक, नैतिक एवं धार्मिक भावनाओं को शिक्षा का एक पहलू मानते हैं। इन्हीं के द्वारा बालक जीवन-मूल्यों की खोज करता है। अतः कार्य बालक के लिये उपयोगी हैं क्योंकि इन्हीं से बालक की मानसिक संतुष्टि होती है।

प्रयोजनवादी किसी भी आध्यात्मिक एवं शाश्वत मूल्य की विद्यमानता नहीं मानता। अतएव वह शिक्षा का कोई पूर्व कल्पित उद्देश्य भी नहीं निरूपित करता। 'बालक कैसा होगा,' की चिन्ता न कर वह बालक की वास्तविक स्थिति से ही अपना कार्य प्रारंभ करता है। वह बालक के समक्ष केवल ऐसी परिस्थिति ला रखता है जिसमें बालक क्रियाशील होकर अपने लिये स्वयं मूल्यों का निर्माण करता है। उसके सम्मुख कोई विशेष पूर्व निश्चित उद्देश्य नहीं होता। वह अपनी क्रियाशीलता में घात-प्रतिघात के नियमानुसार स्वतः कार्य-लक्ष्य तक पहुँचता जाता है। डीवी का कथन है कि 'शिक्षा अनुभवों के सतत्

पुनर्निर्माण एवं गठन की प्रक्रिया है। इसका कोई एक निश्चित उद्देश्य नहीं। इसमें सर्वदा एक तात्कालिक लक्ष्य ही होता है जिसकी प्राप्ति ही में क्रिया को अग्रसरित होने की प्रेरणा मिलती है। दूसरे शब्दों में शिक्षा-क्रिया का यह लक्ष्य, अन्तिम लक्ष्य नहीं है, वरन् नये लक्ष्यों, साधनों एवं इच्छाओं का प्रारम्भ विन्दु है। इस क्रिया का प्रत्येक पद तथा प्रत्येक प्रयुक्त साधन, लक्ष्य-प्राप्ति का आंशिक अंग है।

प्रकृतिवादियों की भाँति प्रयोजनवादी शिक्षक वाह्य-हस्तक्षेप, निर्देश अथवा निर्देशन का विरोधी है। वह बालक की रुचि एवं आवश्यकता का आदर करता है। बालक की रुचि, भावना, प्रवृत्ति एवं आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए सर्वदा प्रयत्न-शील रहता है कि बालक यह अनुभव न करे कि किसी उद्देश्यपूर्ति हेतु उस पर कोई कार्य लाद दिया गया है। वह स्वयं अपनी आवश्यकताओं एवं इच्छाओं के अनुसार कार्य करता है। अध्यापक अनुकूल परिस्थिति एवं वातावरण उपस्थित कर उसको प्रेरणा देता है कि कार्य रुचिकर एवं सरल प्रतीत हो सके। जहाँ तक पाठन विधि का प्रश्न है प्रयोजनवादी, प्रकृतिवादी के समीप है और उनकी विधियाँ साधारणतया समान हैं।

परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तनशीलता ही जीवन की सफलता का सार है। शिक्षा का अभिप्राय इस गुण की अभिबृद्धि करना है। अत: प्रयोजनवादी शिक्षक, बालक में ऐसी क्षमता उत्पन्न करने के पक्ष में है जिससे वह विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल अपने को परिवर्तित कर सके। इतना ही नहीं वह प्रत्येक स्थिति में क्रियाशील एवं साहसी दिखाई दे और भविष्य में भी नव मूल्यों का स्वयं निर्माण कर सके।

क्रियाशीलता ही प्रयोजनवादी विचारधारा का प्राण है। अतएव शिक्षा में प्रयोग एवं साधन ही सर्वथा प्रधान एवं लक्ष्य गौण हो जाते हैं। अब यह प्रश्न उठता है कि प्रयोजनवादी लक्ष्य की अपेक्षा

साधन ही पर क्यों अधिक ध्यान देता है? विचार कार्य का प्रतिफल है। विचार जबतक कार्यरूप में परिणत नहीं होता अधूरा है। इसकी उपयोगिता प्रयोग से ही सिद्ध होती है। प्रयोजनवादी सफल प्रयोग में निहित सिद्धान्तों को ही दर्शन कहते हैं। अतएव शिक्षा-प्रयोग प्रमुख और सिद्धांत गौण अथवा प्रयोग ही शिक्षा सिद्धान्त का आधार है। इस दृष्टिकोण से परम्परागत एवं रुढ़िगत शिक्षण पद्धति को इस शिक्षा प्रणाली मे कोई स्थान नहीं। यह सर्वदा प्रगतिशील, नवपथगामिनी एवं प्रयोगात्मक होती है। इसमें शिक्षक क्रियाशील नहीं रहता वरन् शिक्षार्थी। क्रिया ही अनुभव की जननी है। अनुभव, ज्ञान अथवा कुछ सीखने के लिये बालक को कार्य करना है, न कि अध्यापक को। अत: उसका क्रियारत होना आवश्यक है। 'स्व-क्रिया द्वारा सीखो' इनकी सर्वप्रिय पद्धति है। स्वक्रिया से बालक अनुभव तो प्राप्त ही करता है, साथ ही साथ उसमें स्फूर्ति, धैर्य एवं दृढ़ता की वृद्धि होती है।

बालक को क्रियारत रखने ही के हेतु वास्तविक कार्य वांछनीय है। ऐसे कार्य को प्रयोजनवादी 'प्रोजेक्ट' के रूप में प्रस्तुत करने के पक्ष में हैं, और यही उनकी सर्वश्रेष्ठ विधि है जो 'अभिक्षेप पद्धति' के नाम से प्रचलित है। इस पद्धति के प्रवर्त्तक यच. डबल्यू. किलपैट्रिक के ही शब्दों में "प्रोजेक्ट वह उत्साह एवं उद्देश्य पूर्ण कार्य है जो सामाजिक वातावरण में कार्यान्वित हो।" टॉमस तथा लैन्ग के अनुसार 'प्रोजेक्ट वह स्वेच्छापूर्ण कार्य है जिसमें रचनात्मक कार्य तथा विचार निहित हैं और जिसका फल वस्तुगत रूप में होता है'। स्टीवेन्सन ने इसको 'एक समस्या मूलक कार्य कहा है जो स्वाभाविक परिस्थितियों में पूर्णता प्राप्त करता है।'*

प्रोजेक्ट अथवा कार्य स्वाभाविक गति में उत्पन्न होता है।

---

* Stevenson: The Project Method of Teaching P. 43

उसके कार्यान्वित होने एवं पूर्ति में, सीखने का कार्य अकस्मात ही चलता रहता है। उदाहरणार्थ विद्यालय के कुछ छात्र विद्यालय के कृषि क्षेत्र में सूखते हुए पौधों को सींचना चाहते हैं, पर साधन उपलब्ध नहीं। स्थल विशेष की ओर अध्यापक का ध्यान आकृष्ट करते हैं और कुँआ खोदने की बात करने लगते हैं। अध्यापक भी अपनी स्वीकृति देकर उन्हें प्रोत्साहित करता है और कार्य प्रारंभ हो जाता है—जैसे म्यूनिसिपल बोर्ड से स्वीकृति लेना, खर्चे का आँकड़ा तैयार करना, आवश्यक वस्तुओं का नियोजन आदि। बालक, प्रार्थना पत्र तैयार करने में प्रार्थना पत्र लिखने, आँकड़े का हिसाब रखने में अंकगणित एवं वस्तु नियोजन में व्यवस्थापन का ज्ञान प्राप्त करते हैं; और जब सचमुच कुयें की खुदाई होने लगती है तो भूमि संबंधी ज्ञान सीखते हैं—इस प्रकार प्रोजेक्ट प्रबल-इच्छा से प्रेरित कार्य एवं जीवन-अनुभव है। इच्छा ही 'प्रोजेक्ट' की प्रेरक है और इस पद्धति का आधार भी। बालक प्रोजेक्ट के क्रियमाणता में ही विभिन्न कार्य, कौशल एवं ज्ञान को आवश्यकतानुसार सीखता जाता है। यह सीखने का कार्य स्वभाविक परिस्थितयों में होता है इस कारण बालक जो कुछ सीखता है उसे सुगमता से ग्रहण भी कर लेता है। अतएव इस विधि में वह पुस्तक रटंत, बाह्य-हस्तक्षेप, दबाव, अनुशासन एवं भय-दंड के कुप्रभावों से मुक्त रहता है। उसका व्यक्तित्व एवं मौलिकता कुंठित नहीं होती।

प्रोजेक्ट दो प्रकार के होते हैं–१–व्यक्तिगत २–सामूहिक। इनमें दूसरे का महत्व अधिक है; क्योंकि सामूहिक कार्य द्वारा उनमें सहयोग तथा सामूहिकता की भावना प्रबल होती है।

प्रोजेक्ट पद्धति के प्रयोग की पाँच अवस्थायें होती हैं:—

१–बालकों को ऐसा वातावरण प्रदान करना जिसमें समस्यायें हों और जो उनके सामने आ उपस्थित हों।

२–समस्याओं में से बालक एक या दो को अपने अध्ययन के

लिये चुन ले। यही उसकी योजना होगी और इसका चुनाव वह स्वयं करेगा।

३–योजना चुन लेने के पश्चात् शिक्षक योजनापूर्ति के लिये पथप्रदर्शन का कार्य करता है।

४–योजना को पूर्ण करने हेतु अनेक कार्य करने पड़ते हैं। इतना ही नहीं इन कार्यों के सम्बन्ध में अध्ययन करना पड़ता है। इसी के अंतर्गत विचार विमर्श तथा अनेक प्रकार का अनुभव एवं ज्ञान होता है। ये सब कार्य बालक स्वयं करते हैं, अध्यापक नहीं। वह तो केवल उनका यथाअवसर सहायता तथा उनके कार्यों का निरीक्षण करता रहता है।

५–कार्यपूर्ति के उपरांत प्रोजेक्ट सम्बन्धी मूल्यांकन एवं पुनरावृत्ति होती है। ऐसा करते समय बालक को अपने विचार प्रगट करने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है। वह अपना अनुभव अध्यापक के समक्ष रखता है।

प्रयोजनवादी शिक्षा-प्रणाली में एक विषय दूसरे विषय से पृथक नहीं होता। दो विषयों के बीच में दीवाल खड़ी करना अस्वाभाविक एवं अनुचित है। जिस प्रकार क्रिया के भिन्न-भिन्न अंग नहीं होते, उसी प्रकार ज्ञान के भी भिन्न-भिन्न विभाग नहीं होते। ज्ञान एक पूर्ण समन्वय है। इसे बालक को प्रदान करने के हेतु भिन्न-भिन्न विषयों में विभक्त करना कृत्रिम एवं अस्वाभाविक है। बालकों को मानवजीवन के कार्य सीखने हैं। मानव जीवन के कार्य भिन्न-भिन्न नहीं होते, इसलिये विषयों का वर्गीकरण भी नहीं होना चाहिये। इसी कारण डीवी का कथन है कि 'सीखने का कार्य एक साथ सम्पूर्ण रूप से होना चाहिये तथा शिक्षकों को उस विषय का—जिसे प्रकृति ने 'एक' तथा अविभाज्य बनाया है—विभाजन कभी नहीं करना चाहिये।' रॉस का कथन

हैं कि "विद्यालय में विषयों का एकीकरण अवश्य होना चाहिये क्योंकि संसार में वे एक ही हैं।"*

प्रयोजनवादी शिक्षक सीखने के क्रम में भी एकीकरण चाहते हैं। प्राचीन प्रणाली के प्रारम्भिक विद्यालयों में कुछ काल पूर्व, सीखने में एकीकरण था, तथा कक्षा-अध्यापक ही कक्षा के सभी विषयों का अध्यापन करता था; किन्तु वर्तमान युग में विशेष ज्ञानार्जन करने के फलस्वरूप विषयों का विभाजन एवं वर्गीकरण हो गया है। ये विषय भिन्न-भिन्न घण्टों एवं कक्षाओं में सिखाये जाते हैं जो प्रयोजनवादी सिद्धांत के विरुद्ध हैं।

प्रयोजनवादी, शिक्षणक्रिया में विनय को रुचि द्वारा स्थापित करने के पक्ष में हैं। यदि बालक कार्य में रुचि रखता है तो वह उस कार्य में इतना रत हो जायगा कि अन्य बालकों के कार्य में किसी प्रकार की बाधा न उपस्थित करेगा। कार्यशीलता, विनय की जननी है; और कार्य के अभाव में ही दुष्टता दृष्टिगोचर होती है।

नोटः—प्रयोजनवादी शिक्षा-उद्देश्य, पाठ्यवस्तु, विधि, अध्यापक एवं विनय आदि के विशेष विवरण के लिये अध्याय १९ को पढ़ें।

---

* James S. Ross : Groundwork of Educational Theory P. 142

१५

जॉन डीवी तथा शिक्षा

अ—जीवन परिचय—शैक्षिक विचार की पृष्ठभूमि : सामाजिक परिवर्तनों के फलस्वरूप आधुनिक बालक जीवनोपयोगी वस्तु-निर्माण कार्य से अनभिज्ञ, नवीन पाठशालाओं की आवश्यकता, परिवार ही इसका आदर्श—आदर्श को प्रयोगात्मक रूप देने के हेतु विश्वविद्यालय के अंतर्गत पाठशाला की स्थापना।

ब—दार्शनिक सिद्धान्त : मस्तिष्क एवं ज्ञान का विकास स्वरक्षार्थ संघर्ष में, ज्ञान का स्रोत अनुभव, अनुभव का आधार क्रिया, ज्ञान विकासोन्मुख एवं परिवर्तनशील।

स—शिक्षा : उद्देश्य पूर्व निश्चित नहीं, शिक्षण क्रिया में निहित, वाह्य उद्देश्य अवांछनीय, शिक्षा जीवन-प्रक्रिया, दो घटक : मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक, पाठ्य विषय अविभाज्य, पद्धति; स्व-अनुभव के हेतु क्रियावांछित, प्रोजेक्ट एक समस्यापूर्ण क्रिया, 'क्रिया द्वारा सीखो' सुन्दर विधि, शिक्षक एवं शिक्षार्थी सक्रिय, रुचि ही विनय की जननी—शिक्षा-सिद्धान्त की आलोचना।

जीवन परिचय:—डीवी का जन्म बर्लिंगटन (वर्मन्ट) में सन् १८५६ ई० में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय राजकीय पाठशाला में समाप्त कर उसने बर्मन्ट के कालेज में प्रवेश किया और १८७६ में २० वर्ष की अवस्था में स्नातक होकर निकला। ततपश्चात् अध्यापन कार्य किया। फिर दर्शन की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के हेतु विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। जॉन हॉप्किन्स विश्वविद्यालय से उसने पी. एच. डी. की डिग्री ली तथा हरबार्ट. वी. एडम्स की देख-रेख में राजनैतिक इति-

हास, और चार्ल्स पियर्स की सहायता से दर्शन का विशेष अध्ययन किया। तत्पश्चात वह मिशीगन विश्वविद्यालय में कुछ दिनों के लिये प्राध्यापक हो गया। सन १८६४ से १६०४ ईसवी तक वह शिकागो विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग के अध्यक्षपद पर कार्य करता रहा। पुनः वह कोलम्बिया विश्वविद्यालय में दर्शन का प्राध्यापक नियुक्त किया गया। यहीं से उसकी ख्याति एक प्रसिद्ध विचारक, दार्शनिक एवं शिक्षा-शास्त्री के रूप में फैली। फलस्वरूप सन् १६१६ ई० में उसे टोकियो (जापान) के इम्पीरियल विश्वविद्यालय की ओर से शिक्षा और दर्शन पर भाषण देने का निमंत्रण मिला। चीन के पेकिंग विश्वविद्यालय में भी दो वर्ष तक यही कार्य किया। तुर्की सरकार के बुलावे पर उसने वहाँ जा कर शिक्षा नियोजन कार्य किया। इतना ही नहीं उसे रूस और मेक्सिको ने भी आमंत्रित किया। इस प्रकार विदेशों में विचारक, दार्शनिक, तथा शिक्षा-शास्त्री के रूप में महान् ख्याति प्राप्त कर उसने १ जून सन् १६५२ ई० को इहलोक का त्याग किया।

डीवी के शैक्षिक विचारों की पृष्ठभूमि—तत्कालीन परिस्थितियों के अध्ययन करने के पश्चात् डीवी ने अनुभव किया कि पाठशालायें औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप उपस्थित सामाजिक परिवर्तनों के अनुरूप नहीं हैं। सामाजिक परिवर्तनों के कारण प्राचीन सम्मिलित परिवार की परम्परा विशृङ्खलित और गाँवों की सरल सामाजिक व्यवस्था समाप्त हो गई है। आज का शिशु कल-कारखानों में निर्मित वस्तुओं के बीच अपना जीवन व्यतीत कर रहा है; परन्तु वह इनके निर्माण कार्य से पूर्णतः अनभिज्ञ है। दैनिक अनुभूतियों की दृष्टि से आज से ५० वर्ष पूर्व का बालक अधिक भाग्यशाली था क्योंकि वह जीवनोपयोगी वस्तु-निर्माण-कार्य को स्वयं देखता तथा समझता था। सचमुच उसका साधारण जीवन आधुनिक बालक के जीवन की अपेक्षा शिक्षा

की दृटि से अधिक महत्व का था। आज अमेरिका और संसार की प्राय: सभी शिक्षा-संस्थायें इस परिवर्तित वातावरण को समझने में असमर्थ हैं।

पूर्वकाल में शिक्षा कतिपय लोगों के विलास की वस्तु थी तथा पुस्तकीय विषय, शिक्षण के प्रमुख आधार थे। कक्षा का निर्माण केवल भाषण देने और उन्हें सुनाने के उद्देश्य से होता था। छात्र अडिग एवं स्थिर डेस्कों पर बैठे निष्क्रिय श्रोता थे। सामूहिक सुविधा के समक्ष व्यक्तिगत सुविधा का कोई महत्व न था। इस व्यवस्था के फलस्वरूप छात्र की बौद्धिक शक्ति पंगु बन गई। अत: आज के परिवर्तित समाज तथा बदलती हुई शैक्षिक परिस्थितियों के लिए एक ऐसे नवीन पाठशाला की आवश्यकता है जो बालक को पूर्ण जीवन व्यतीत करने के योग्य बना सके। डीवी ने एक आदर्श पाठशाला की परिस्थितियों को एक आदर्श परिवार में पाया। आदर्श परिवार में माँ-बाप बालकों की आवश्यकता पूर्ति के लिये उचित वस्तुओं को सुलभ रखते हैं। बालक घर के वार्तालाप और घरेलू कार्यों द्वारा ज्ञानार्जन करता है, परिश्रमी बनता है तथा उसी वातावरण में दूसरों के अधिकार एवं विचार का आदर करना सीखता है, और पारिवारिक लाभ के लिये ही अपने कार्यों को संचालित करता है।

पाठशाला एक विस्तृत आदर्श परिवार है जिसमें जातिगत यथार्थ एवं सार्थक क्रियायें संतुलित रूप में की जाती हैं। अतः "विद्यालय-जीवन को पारिवारिक जीवन का प्रतिरूप होना चाहिये और पाठशाले में उन्हीं क्रियाओं को मान्यता मिलनी चाहिये जिनसे बच्चा घर में परिचित हो"।*

विश्वविद्यालयांतर्गत प्रारम्भिक पाठशाला में प्रयोग—डीवी, उपर्युक्त आदर्श विद्यालय के विचार में ओत-प्रोत था। आदर्श को

* Dewey : My Pedagogic Creed. Article II.

यथार्थ बनाने के लिये उसने एक प्रारम्भि पाठशाला की स्थापना सन् १८९६ ई० में की। इसमें चार से चौदह वर्ष तक के बालक भर्ती हुए। बालकों को ८, १० की टोलियों में विभक्त कर दिया गया और प्रत्येक टोली एक अनुभवी अध्यापक से सम्बद्ध की गई। डीवी ही सबका निरीक्षक था। उसने कार्य-प्रणालियों की एक योजना बनाई। यह योजना विशेष नियमों से आबद्ध नहीं थी।

पाठशाला के प्रारम्भ होते ही डीवी तथा उसके सहायकों के समक्ष कुछ समस्यायें उपस्थित हुईं, जो इस प्रकार हैं:—

(१) पाठशाला को घरेलू एवं सामाजिक जीवन के अनुरूप बनाने तथा समीप लाने के लिये क्या किया जाय?

(२) इतिहास, विज्ञान और कला जैसे विषयों को बालकों के सम्मुख किस प्रकार प्रस्तुत किया जाय कि वे उनका महत्व अपने जीवन में समझ सकें?

(३) इनके दैनिक कार्य एवं अनुभव की पृष्ठभूमि में लिखने, पढ़ने तथा गिनने को किस प्रकार प्रस्तुत किया जाय?

(४) व्यक्तिगत आवश्यकताओं के निमित्त उपयुक्त ध्यान प्रत्येक छात्र पर किस प्रकार दिया जाय?

डीवी के इन प्रयोगों ने शिक्षा के आधारभूत सिद्धान्तों एवं विचारों को स्पष्ट कर दिया तथा अन्य शिक्षाविज्ञों का ध्यान भी उसकी ओर आकृष्ट हुआ।

डीवी के मूल दार्शनिक सिद्धान्तः—डीवी की धारणा थी कि मस्तिष्क तथा ज्ञान का विकास प्राकृतिक ढंग से हुआ है और मानव-जीवन का विकास परिस्थितियों से संघर्ष करने में। मानव स्व-अस्तित्व के लिये सर्वदा कार्य करता रहा है और उसके विकास में उसका मस्तिष्क एक महत्वपूर्ण साधन रहा। मस्तिष्क की क्रियाशीलता में ही ज्ञान का जन्म एवं विस्तार हुआ। मस्तिष्क के तीन स्वरूप—विचार,

भाव और इच्छा हैं। ज्ञान का अस्तित्व मस्तिष्क से अलग नहीं। विचार मस्तिष्क की क्रियाशीलता में उत्पन्न होते हैं। मनुष्य स्व-रक्षार्थ, वातावरण को नियंत्रित रखने अथवा उसे अपने उपयुक्त बनाने के लिये सर्वदा क्रियाशील है और भविष्य में भी रहेगा। उसकी क्रियाशीलता में उसका मस्तिष्क भी क्रियमाण रहता है। फलस्वरूप नये विचार सर्वदा उत्पन्न होते रहते हैं। सारांश यह है कि मनुष्य के विचार स्थिर एवं निश्चित नहीं वरन् परिवर्तनशील, वृद्धिशील तथा विकासोन्मुख हैं।

ज्ञान का आधार क्रियायें हैं। इसका अस्तित्व क्रियायों के पूर्व नहीं। क्रियायें, अनुभव की जन्मदायिनी हैं; और अनुभव ज्ञान के स्रोत। जीव विकास में क्रियायें सर्वदा स्वेच्छानुसार होती रही हैं तदनुरूप अनुभव, ज्ञान एवं सीखने की क्रिया भी। अतः ज्ञान, क्रियायों का अनुचर अथवा प्रतिफल है।

अनुभवः—ज्ञान का विकास मनुष्य के स्वरक्षार्थ जीवन-संघर्ष में हुआ है। मनुष्य अन्न, शरण एवं वस्त्र की प्राप्ति तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अतीत काल से संघर्ष करता आ रहा है। ये संघर्ष-क्रियायें शनैः शनैः उसके जीवन की प्रवृत्तियाँ बन गई हैं जिन्हें उसने आवेग, मूलप्रवृति एवं रुचि के रूप में वंशानुगत प्राप्त किया है। ये प्रवृत्तियाँ अन्य जीवों की भाँति मनुष्य में स्थिर, निश्चित एवं मूलप्रवृत्यात्मक क्रियायें नहीं हैं। ये केवल अंतःप्रेरित क्रियायें हैं जिनमें वातावरण के अनुसार सर्वदा परिवर्तन एवं संशोधन हुआ करता है। अर्थात् मानव प्रवृतियाँ अस्थिर, अनिश्चित विकासोन्मुख एवं परिवर्तनशील हैं ज्ञान क्रियायों द्वारा प्राप्त होता है। अतः यह भी अनिश्चित, विकासोन्मुख एवं परिवतनशील है। इतना ही नहीं यह क्रियायों से अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि क्रियाशीलता के अभाव में, क्रिया से अलग होकर ज्ञान अस्तित्वहीन है। मानव-ज्ञान का विकास

क्रियाओं के द्वारा हुआ है। क्रियायें ही ज्ञान का आधार हैं। अतः शिक्षा का प्रारम्भ घर तथा समाज की क्रियाओं में ही होना चाहिये।

डीवी के शिक्षा सम्बन्धी विचार

डीवी का शिक्षा से अभिप्राय 'उन सभी शक्तियों के विकास में है जिनके द्वारा मनुष्य में वातावरण पर नियंत्रण रखने तथा अपनी समस्त शक्तियों को विकसित करने का सामर्थ्य उत्पन्न हो सके।' शिक्षा, मनुष्य के अनुभव की नव रचना एवं पुनर्निर्माण की एक प्रक्रिया है। मनुष्य के अनुभव प्रत्येक क्षण परिवर्तित होते रहते हैं, क्योंकि उसके समक्ष नवीन स्थितियाँ आती रहती हैं। उन स्थितियों के अनुकूल मनुष्य के कार्य-क्रम में भी परिवर्तन होता रहता है। फलस्वरूप उसके अनुभव में प्रत्यावर्तन एवं वृद्धि होती है। इन्हीं अनुभवों के अनवरत प्रत्यावर्तन, परिवर्तन, वृद्धि एवं तदनुरूप स्थिति-क्रम को शिक्षा-प्रक्रिया कहते हैं। अनुभव सर्वदा व्यक्तिगत और वातावरण के अनुरूप होता है। अतः "शिक्षा, अनुभव के ही द्वारा, अनुभव ही के लिये एक आंतरिक विकास-क्रिया है।"*

शिक्षा एक साधारण वस्तु नहीं, यह एक प्रक्रिया है। मानव-समाज के क्रमबद्ध प्रगति का यह एक मात्र साधन है। इसने मानव-सभ्यता को सुरक्षित ही नहीं रखा वरन् उसे सर्वदा अग्रमुखी बनाया है।

डीवी तथा शिक्षा उद्देश्य:—डीवी किसी प्रकार के पूर्व स्थित सत्ता अथवा जीवन मूल्यों में विश्वास नहीं करता। अतः उसके अनुसार शिक्षा के कोई पूर्व निश्चित उद्देश्य भी नहीं होते। उद्देश्य सर्वदा शिक्षा-प्रक्रिया में निहित रहते हैं। उसका कथन है कि "शिक्षा का उद्देश्य सर्वदा तात्कालिक होता है। शिक्षा-क्रिया जितनी होती जाती

*Dewey : Experience and Education. P.

वरन् यह वर्तमान जीवन व्यतीत करने की एक प्रक्रिया है जो जीवन पर्यन्त अनुभव के हेतु, उन्हीं के बलपर, आंतरिक विकास पर आधारित हैं। 'यह स्वयं जीवन है; भविष्य की तैयारी नहीं।' बालक वर्तमान में रहता है और भविष्य की रंचमात्र भी चिंता नहीं करता।

शिक्षा-प्रक्रिया के दो मुख्य घटक

अ—मनोवैज्ञानिक घटक से उसका अभिप्राय बालक, उसकी मूल-शक्तियाँ, प्रवृत्तियाँ, क्षमता एवं अनुभव से है। शिक्षा का प्रारम्भ बालक के कार्य के साथ होता है। उसकी क्रियाओं के हेतु उसकी शक्ति, क्षमता, रुचि एवं उसके अनुभव महत्वपूर्ण हैं। अतः "हमारे लिये आवश्यक है कि उन्हें हम भलीभाँति पहचानें और समाज-सेवा के हेतु उपयोग में लावें।"* प्रवृत्तियाँ जो मूलतः कार्य की प्रेरक होती हैं, सामाजिक परिस्थितियों में कार्यान्वित हो अपने वास्तविक सार को प्राप्त करती हैं और इसी में विकसित भी होती हैं। भोजन, वस्त्र एवं निवास स्थान की प्राप्ति सामाजिक कार्यों में अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। अतः इन्हीं कार्यों को पाठ्यक्रम का मेरुदंड होना चाहिये।

ब—सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में वास्तविक शिक्षा का प्रारम्भ परिवार ही में होता है। सामाजिक परिस्थितियाँ ही बालक को क्रियाशील बनाती हैं। यही उसकी क्रियाशीलता की प्रेरक हैं। बालक समाज से अलग नहीं है। डीवी का कथन है कि 'व्यक्ति समाज से अलग एक प्राणी नहीं माना जा सकता। उसने अपने शरीर, क्रियाओं एवं शक्तियों को समाज ही में रहकर प्रबल बनाया है। मनुष्य सामाजिक क्रियाओं एवं व्यवहार को सीखने के फलस्वरूप ही वास्तविक मनुष्य बना है। समाज केवल व्यक्तियों से ही नहीं बना, वरन् यह एक चेतनायुक्त, क्रमबद्ध समूह है।' अतः समाज का शिक्षा में एक महत्वपूर्ण स्थान है।

---

* Dewey: My Pedagogical Creed. Article I

डीवी तथा पाठशाला—शिक्षा के उपरोक्त घटकों को दृष्टि में रखते हुए सामाजिक परिस्थितियाँ एवं क्रियायें ही बालक की वास्तविक शिक्षा की आधार शिला हैं। अतः पाठशाला का मुख्य उद्देश्य बालकों में सहकारिता, सहयोग एवं सहायता की भावनाओं को प्रबल करना है। "पाठशाला एक सामाजिक संस्था है और शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया। यह सामुदायिक जीवन का एक रूप है जिसमें वे सभी साधन एकत्र हैं जो बालक की वंशानुगत शक्तियों को सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रेरित करते हैं।"* अतः शिक्षालय का कार्य रचनात्मक है; और उसी अंश तक ग्रहण योग्य भी है जो नव रचना के लिये प्रेरक हो। इसका कार्य वस्तुस्थिति को तदनुरूप बनाये रखना नहीं है। यह समाज के प्रगति का प्रतिनिधि है अथवा समाज का एक दर्पण। अतएव इसके पाठ्यविषय, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन के अनुरूप ही होने चाहिये। पाठशाला को ऐसा वातावरण प्रस्तुत करना चाहिये, जिसमें मानव-जाति की वास्तविक, सारयुक्त, सूक्ष्म, संतुलित एवं शुद्ध क्रियाएँ बालक की रुचि को अनुप्राणित करती रहें। ऐसे ही वातावरण में बालक पारिवारिक जीवन का अनुभव करेगा। अतः डीवी के मतानुसार पाठशाला वह स्थान है जहाँ जीवन सम्बन्धी प्रयोग किये जाते हैं; जिसमें किये हुए पूर्व प्रयोगों की चर्चा होती है। बालक यहाँ अपने प्रयोगों से अनुभव प्राप्त करते हैं। इसमें क्रियाओं का ही प्राधान्य होता है। यहाँ सामाजिक क्रियाएँ दुहराई जाती हैं और बालक भावी जीवन के लिये तैयारी नहीं करता वरन् जीवन व्यतीत करता है। यही उसकी सच्ची शिक्षा है और पाठशाला समाज का सच्चा लघु रूप है।

डीवी तथा शिक्षा-प्रणाली:—रूसो की भाँति डीवी प्रत्यक्ष अनुभव पर अधिक बल देता है, क्योंकि स्व-अनुभव ही व्यक्ति का

* John Dewey : My Pedagogical Creed. Article II.

सर्वश्रेष्ठ अध्यापक है। प्रत्यक्ष अनुभव कार्यों द्वारा ही प्राप्त होते हैं। इसलिए बालक को अनुभव; विचार अथवा ज्ञान, क्रिया एवं प्रयोग द्वारा ही मिलने चाहिये। इसी सिद्धान्त के आधार पर डीवी की शिक्षा-पद्धति का नारा है, 'प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करो, क्रिया द्वारा सीखो'। इसी ने अभिक्षेप पद्धति को जन्म दिया और आज इस पद्धति का प्रयोग डीवी के अनुयायी अमेरिका के प्रायः सभी शिक्षालयों में कर रहे हैं। प्रोजेक्ट एक ऐसी समस्यापूर्ण क्रिया है जिसको करने में बालक रत हो जाता है और क्रिया द्वारा वह अनेकानेक अनुभव एवं ज्ञान प्राप्त कर लेता है। उदाहरणार्थ, एक पाठशाला के बालकों को कृषि हेतु एक भूमि का टुकड़ा दिया जाता है। फसल तैयार करने के पूर्व ही वे मिट्टी की विशेषता एवं उसमें उगनेवाली फसल के सम्बन्ध में योजना बनाते हैं। भूमि को क्यारियों में बाँटते हैं। समय और ऋतु के सम्बन्ध में सोचते हैं। मिट्टी और बीज विषयक अनुसंधान करते हैं। इस प्रकार कुछ ही काल में वे पर्याप्त ज्ञान और कौशल प्राप्त कर लेते हैं।

शिक्षा पद्धति के उपर्युक्त सिद्धांत एवं प्रयोग से यह स्पष्ट है कि डीवी, हरबार्ट के पंचपद को सर्वथा अस्वीकार करता है और उनके स्थान पर नये पंच सोपानों को प्रस्तुत करता है—

डीवी के पंचसोपान		हरबार्ट के पंचपद
१—क्रिया	(Activity)	प्रस्तावना (Preparation)
२—समस्या	(Problem)	विषय-प्रवेश (Presentation)
३—सामग्री	(Data)	तुलना एवं स्पष्टीकरण (Comparision)
४—परिकल्पना	(Hypothesis)	सामान्यीकरण (Generalisation)
५—परीक्षण	(Testing)	प्रयोग (Application)

इस सोपानों के आधार पर डीवी और हरबार्ट के शिक्षा प्रणालियों की इस प्रकार समीक्षा की जा सकती है :—

(१) "डीवी प्रयोगवादी है।	(१) हरबार्ट बुद्धिवादी है।
(२) डीवी के लिये क्रिया प्रधान है।	(२) हरबार्ट के लिये विचार।
(३) डीवी शिक्षा का आरंभ उन क्रियाओं से करता है जो बालक के लिये रुचिकर हैं।	(३) हरबार्ट उन विचारों को जागृत करना चाहता है जो बालक के मस्तिष्क में पहले से उपस्थित हैं।
(४) डीवी बालकों को उनकी समस्या का विश्लेषण कर शिक्षा देता है।	(४) हरबार्ट पूर्व-विचारों के आधार पर नवीन विचार उपस्थित करता है।
(५) डीवी 'परिकल्पना' हेतु विषय का अध्ययन कराना अनिवार्य समझता है।	(५) हरबार्ट सामान्यीकरणके लिये विचारों की तुलना आवश्यक समझता है।
(६) डीवी परिकल्पना की सत्यता की खोज करता है।	(६) हरबार्ट पूर्व-निश्चित-ज्ञान ही का प्रयोग करता है।
(७) डीवी की शिक्षा-पद्धति में हम कार्यों के बीच में सोचते हैं।	(७) हरबार्ट की शिक्षा-पद्धति में पहले विचारते हैं तत्पश्चात् कार्य करते हैं।"*
(८) "डीवी के सोपान बालक को सक्रिय रखकर उसे आकर्षण-विंदु बनाते हैं।	(८) हरबार्ट के पंचपद अध्यापक की क्रिया को महत्व प्रदान करते हैं।" †

* J. S. Brubacher : Eclectic Philosophy of Education. P. 360–61.

† Meyer : The Development of Education in the Twentieth Century. P. 49.

होर्न के अनुसार "दोनों पद्धतियाँ एक दूसरे की पूरक हैं। उनका प्रयोग विभिन्न शिक्षा-क्षेत्रों में उपयोगी है। हरबार्ट की विधि भाषा, साहित्य, इतिहास तथा अन्य बौद्धिक क्षेत्र में उपादेय है तो डीवी की हस्तकला और विज्ञान में। जब पुस्तकीय ज्ञान देना हो तो हरबार्ट की विधि अन्यथा वस्तु सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने हेतु डीवी की उपयोगी है।" † मेयर तो यह भी कहता है कि "यदि सीखने का माध्यम समस्या समाधान हो तो डीवी की पद्धति विचारों के क्षेत्र में भी हितकर है।"

अध्यापक एवं बालक:–डीवी के विचारानुसार, 'न तो शिक्षक को वक्ता अथवा सक्रिय, न बालक को निष्क्रिय श्रोता और न इसके पूर्णत: विपरीत ही होना चाहिये वरन् इसमें शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों मिलजुल कर लिखने पढ़ने का कार्य करते हैं तथा साथ-साथ किसी वास्तविकता का अन्वेषण करते हैं।' शिक्षक अपने परम्परागत स्थान को छोड़ कर एक सहायक, पथ-प्रदर्शक एवं सहयोगी के रूप में कार्य करता है। वह आदेश नहीं देता। बालक को उसकी रुचि के विरुद्ध कार्य करने को बाध्य नहीं करता। पूर्व-निश्चित सिद्धान्तों को उसके सम्मुख नहीं रखता, और न अपने पांडित्य को ही उस पर लादता है। समय-समय पर आवश्यकतानुसार समस्या-समाधान में बालक के सम्मुख सुझाव उपस्थित करता है। नई समस्या उत्पन्न करने के लिये स्वाभाविक पृष्ठभूमि तैयार करना, उसके समाधान सम्बन्धी उपकरणों को प्रस्तुत करना एवं अन्वेषण को सफल बनाने के लिये बालक को जिज्ञासु बनाये रखना शिक्षक का मुख्य कार्य है।

प्रयोगवाद में शिक्षक न तो आदर्शवादी शिक्षक की भाँति अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से बालक का चरित्र-निर्माण करता है और न

† H. H. Horne: The Democratic Philosophy of Education. P. 207.

प्रकृतिवादी शिक्षक की भाँति बालक को स्वेच्छापूर्वक कार्य करने एवं अपने अवांछनीय कार्यों के कुपरिणामों को भोगने का ही अवसर देता है अपितु वह बालक का पथ-प्रदर्शक, सलाहकार, सहयोगी एवं मित्र है। अपने कार्य में पग-पग पर प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करते हुए वह बालक से प्रयोग एवं अनुसन्धान कराकर उसके स्वानुभव, स्वावलम्बन, सहयोग, एवं सामाजिक भावनाओं को शक्तिशाली बनाता है।

रुचि एवं विनय–डीवी के अनुसार 'अनुभव ही शिक्षा की आधार शिला है, और रुचि अनुभव को प्रेरणा देती है।' रुचि अनेक प्रकार की होती हैं। किन्तु वह रुचि, जो क्रिया में अविराम व्याप्त हो, अनुभव के लिये सर्वोत्तम है। आवश्यकता ही रुचि की जननी है, और इसकी पूर्ति के लिये क्रिया आवश्यक है। अतएव रुचि एवं क्रिया में अविच्छिन्न सम्बन्ध है। सभी प्रकार की क्रियायें रुचि-उत्पादक, रुचि-वर्द्धक एवं रुचि को निरन्तर व्याप्त बनाने वाली नहीं होती। उदाहरणार्थ केवल शारीरिक क्रिया रुचि-वर्द्धक नहीं होती। वही क्रिया रुचि उत्पन्न कर सकती है और रुचि को अनवरत बनाये रख सकती है, जो मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करती हो। ऐसी ही क्रियायें शिक्षा में उपादेय हैं। डीवी का अभिप्राय इन्हीं क्रियाओं से है। ये क्रियायें कर्त्ता के लिए सर्वदा आकर्षक बनी रहती हैं, तथा अवधान को अपनी ओर खींचती हैं, कार्य को सरल बनाती हैं। 'ऐच्छिक-अवधान' ही कार्य करने, सीखने एवं ज्ञानार्जन के लिये मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वांछनीय है। अत: डीवी अनुभव अथवा ज्ञान-प्राप्ति के लिए अविराम व्याप्त-रुचि को अत्यावश्यक मानता है।

उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर डीवी हरबार्ट को चुनौती देता है और उसके सिद्धान्त–'हम उसी में रुचि रखते हैं जिसे जानते हैं'–को अस्वीकार करता है। उसका कहना है, कि बालक में पूर्व-ज्ञान द्वारा

रुचि उत्पन्न नहीं होती, वरन् रुचि ही पूर्व-ज्ञान को अवधान की वस्तु बनाती है। हरबार्ट की शिक्षा-पद्धति में पूर्व-ज्ञान को प्रस्तावित करके बालक को अवधान प्रवण किया जाता है। यह डीवी के अनुसार ठीक नहीं; क्योंकि बालक में मौलिक इच्छायें होती हैं जिनकी उत्पत्ति स्वभाविक एवं भौतिक है, और इन्हीं के संतुष्टि में क्रिया एवं रुचि निहित हैं। इन क्रियाओं सम्बन्धी ज्ञान में बालक की ऐच्छिक रुचि हो सकती है। बालक, बालक ही है। बाल्यकाल में उसकी आवश्यकतायें सीमित होती हैं। हरबार्ट की पद्धति के पोषक बालक की जीवन-आवश्यकताओं का ध्यान न रखते हुए उसके मस्तिष्क में अधिकाधिक ज्ञान को भरना ही अपना कार्य समझते हैं, और पूर्व तथा प्रस्तावित ज्ञान को सम्बद्ध करने में ही अपनी कला समझते हैं। किन्तु इस प्रकार प्रदत्त ज्ञान और बालक की अवस्थानुकूल आवश्यकताओं एवं क्रियाओं में कोई सम्बन्ध नहीं रहता। फलतः बालक को मस्तिष्कीय अजीर्णता हो जाती है। इस शिक्षण-पद्धति में रुचि का ह्रास, शिक्षण-प्रक्रिया निर्जीव, शिक्षार्थी निष्क्रिय, शिक्षा-कक्ष नीरस एवं अवसादमय, बालक मलीन तथा अध्यापक केवल निर्देशक हो जाता है। अतएव रुचि के अभाव में अनुशासन की समस्या अध्यापक के सम्मुख आ उपस्थित होती है। इन परिस्थितियों से बालक को बचाने के लिये, डीवी उसे कक्ष के बाहर उनकी जीवन-आवश्यकताओं की पूर्ति की क्रियाओं को करने का अवसर प्रदान करता है। उसे क्रियाओं द्वारा अनुभव एवं ज्ञान प्राप्त करने का केवल साधन ही एकत्र नहीं करता, वरन् क्रियाओं की पृष्ठभूमि को ऐसा स्वाभाविक एवं उपयुक्त बनाता है, कि बालक सर्वदा अपनी रुचि के अनुकूल क्रियारत रहता है। इस प्रकार जब बालक क्रियाओं में लीन रहते हैं, तो अनुशासन की समस्या उठती ही नहीं; क्योंकि क्रियारत बालक को इतना समय ही नहीं कि वह दूसरे के कार्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हस्तक्षेप करे।

इस प्रकार बालक में स्व-विनय उत्पन्न होता है और यही एक प्रकार की नैतिक दीक्षा है।

डीवी के दार्शनिक मत एवं शिक्षा-सिद्धान्त की आलोचना

डीवी निःसन्देह एक महान् शिक्षा-दार्शनिक है। यद्यपि उसके दार्शनिक विचारों एवं शैक्षिक सिद्धान्तों ने बीसवीं शताब्दी में शिक्षा को अत्यधिक प्रभावित किया है; किन्तु यह विश्वास कर लेना, कि उसके सिद्धान्त सर्वमान्य हैं, युक्तिसंगत नहीं। आदर्शवादी, यथार्थवादी और आधुनिक बुद्धिवादियों ने इसकी आलोचना किया है। डीवी अथवा अन्य प्रयोगवादियों की दृष्टि में वास्तविकता अथवा सत्य पूर्ण नहीं हैं; वरन् आपेक्षिक एवं सम्बन्धित हैं। इनका सतत निर्माण हो रहा है। मानव में नैतिक गुण पूर्व ही से विद्यमान नहीं इन्हें वह स्वयं निर्धारित करता है। अतएव जीवन के आदर्श अथवा उद्देश्य भी पूर्व-निश्चित नहीं हैं, वरन् मानव इन्हें परिस्थितियों के अनुकूल स्वयं बनाता है। यदि हम जीवन सम्बन्धी इस मत को मान लेते हैं, तो प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य आखिर जीवन क्यों व्यतीत करता है? क्यों जीवित रहता है? प्रयोजनवादी इसके उत्तर में कहते है, कि 'मानव के जीवित रहने का उद्देश्य वही है, जो पशु के जीवित रहने का;' अर्थात् जीवन बिताना ही स्वयं जीवन-लक्ष्य है। यदि मानव इस जीवन दृष्टिकोण को अपना लेगा तो निःसन्देह वह अपना जीवन उसी प्रकार व्यतीत करेगा, जैसे कि एक पशु। वह अतीत से तो विस्मृत रहेगा ही और भविष्य की ओर भी कभी आँख न उठायेगा। अर्थात् वह वर्तमान में न तो अतीत का ध्यान रखेगा और न भविष्य की चिन्ता करेगा। जीवन का यह दृष्टिकोण मानव के लिये निःसन्देह भ्रमात्मक है। मानव, मानव ही है; और चिन्तन ही उसका गुण है। वर्तमान के साथ ही साथ भविष्य के लिये भी चिन्तन करना मानव की विशेषता है। वह जन्म जात विचारक

है; किन्तु उसके इस जन्म-जात गुण के विरुद्ध प्रयोगवादी चिन्तन रहित जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति को प्रबल, और उसकी धार्मिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों को क्रमशः निर्बल बनाता है।

उपरोक्त दार्शनिक मत पर आधारित शिक्षा-योजना उद्देश्य रहित है। डीवी के अनुसार, जिस प्रकार जीवन का उद्देश्य जीवन व्यतीत करना है, उसी प्रकार शिक्षा का उद्देश्य शिक्षा-प्रक्रिया में ही निहित है, किन्तु उद्देश्यहीन क्रिया प्रायः निरर्थक होती है।

इस शिक्षा-योजना में नैतिक शिक्षा को कोई स्थान नहीं, और नैतिकता, आध्यात्मिकता एवं चिन्तन को प्रोत्साहित करने की कोई व्यवस्था नहीं है।

प्रयोजनवादी दर्शन, उद्देश्य की दृष्टि से मानव एवं पशु जीवन को समान समझता है। पशु-जीवन की क्रिया के प्रेरक सुख एवं दुख की भावनायें हैं। इसी प्रकार मानव जीवन की क्रियाओं की कसौटी उनकी उपयोगिता है। यदि क्रिया उपयोगी है तो वह अच्छी है। यदि अनुपयोगी है, तो करने योग्य नहीं। यह सिद्धान्त मानव के 'स्वहिताय' की प्रवृत्ति को प्रबल बनाता है। इतना ही नहीं, उनको भौतिक सम्पन्नता के लिये प्रोत्साहित करता है। भौतिक सम्पन्नता एवं 'स्वहिताय' की भावना, धीरे-धीरे आध्यात्मिक मूल्यों का अन्त कर आर्थिक मूल्यों को ही स्थापित करती हैं। इन सिद्धान्तों पर मूलतः आधारित शिक्षा-योजना पूर्ण व उदार नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें शरीर-रक्षक एवं जीवनोपयोगी क्रियाओं के अतिरिक्त नैतिक, सौंदर्यात्मक एवं धार्मिक क्रियाओं के लिये कोई स्थान ही नहीं। वह शिक्षा जिसमें शारीरिक, जीवनोपयोगी एवं बौद्धिक क्रियाओं के अतिरिक्त नैतिक, सौंदर्यात्मक एवं धार्मिक क्रियाओं को स्थान न हो, पूर्ण व उदार शिक्षा नहीं हो सकती। प्रयोजनवाद जीवनोपयोगी शिक्षा पर अधिक बल देता

है और बालक को व्यावसायिक व्यक्ति ही बनाने में अधिक सफल है।

शिक्षा के उद्देश्य के अभाव में प्रयोजनवादी शिक्षण-विधि पर ही अधिक बल देते हैं। और अपने शिक्षण-सिद्धान्तों को प्रयोगात्मक रूप देने के लिये प्रोजेक्ट का सहारा लेते हैं। यदि आज देश के सभी शिक्षालयों में अभिक्षेप-पद्धति द्वारा शिक्षा दी जाय, तो निःसन्देह शिक्षा-सङ्गठन में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन होगा। समय विभाजक-चक्र, कक्षा-पद्धति, विषय-शिक्षण आदि का पूर्ण प्रारम्भ में लोप हो जायगा और निःसन्देह शिक्षा-व्यवस्था में पूर्ण अराजकता दृष्टिगोचर होगी।

पुस्तकों के स्थान पर प्रोजेक्ट अथवा समस्या को डीवी अनुभव प्राप्त करने का उपयुक्त माध्यम मानता है। ऐसी अवस्था में भिन्न-भिन्न बालकों के लिये भिन्न-भिन्न प्रोजेक्टों की आवश्यकता पड़ेगी। ये प्रोजेक्ट एक घण्टे, एक दिन, एक मास या वर्षों तक चल सकते हैं। अतएव एक ही वर्ग के बालकों की प्रगति में एकरूपता नहीं बनी रह सकती। मन्द-बुद्धि बालक बहुत पीछे रह जायगा और कुशाग्रबुद्धि बहुत आगे बढ़ जायगा। तात्पर्य यह है कि प्रोजेक्ट द्वारा अनुभव प्राप्ति में विषयों का क्रम-बद्ध ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं। एक ही वर्ग में एकरूपता नहीं रह सकती और शिक्षालय कारखानों में परिणत हो जायेंगे।

अध्यापक अपने देश के रीति-रिवाज एवं संस्कृति से उसकी भिन्नता पर अधिक बल न देकर दोनों की एकता पर ही बल दे।

भूगोल पढ़ाते समय मानवीय भूगोल पर ही अध्यापक का अधिक बल देना उचित है। मनुष्य के जीवन, उसके महत्व, भौगोलिक अवस्था, जलवायु, व्यापार आदि का तुलनात्मक ज्ञान देना चाहिए। इतिहास के शिक्षण का उद्देश्य राष्ट्रीय भावनाओं के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं को जाग्रत करना है। अतः अपने देश एवं राष्ट्र के उत्थान-पतन के साथ अन्य राष्ट्रों के उत्थान-पतन की तुलनात्मक व्याख्या करना तथा परिणामों पर ही बल देना वांछनीय है। 'मेरा देश' अच्छा है या बुरा की भावना अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से अनुचित है। इतिहास के पाठ्य-क्रम में विश्व के इतिहास को मुख्य स्थान मिलना चाहिये। 'साहित्य समाज का दर्पण है।' एक ही युग के अनेक देशों के साहित्य में हमें बहुत अंशों में एकरूपता एवं समानता दृष्टिगोचर होती है। यदि साहित्य पढ़ाते समय अध्यापक तुलनात्मक दृष्टिकोण रखे तो एकता के भाव उत्पन्न होंगे। मेयर के कथनानुसार 'यदि विद्यालय अपनी अबतक भूली हुई उन शक्तियों की ओर जागरूक हो जाय, जो शान्ति के घटक हैं तो वे विश्व शान्ति एवम् अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव की स्थापना में बहुत कुछ योग दे सकते हैं।'

सहायक ग्रन्थों की सूची

बलदेव भाटिया और सुबोध अदावल : शिक्षा दर्शन
सरयू प्रसाद चौबे : पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास
सुबोध अदावल : भारतीय शिक्षा सिद्धांत

Adams, J : The Evolution of Educational Theory.
,, ,, : Modern Developments in Educational Practice.
Brubacher, J. S.: Modern Philosophies of Education
,, ,, : Eclectic Philosophy of Education.
Boyd, W. : The History of Western Education.
Durant, W. : The Story of Philosophy.
Dewey, J. : Democracy and Education.
,, ,, : School and Society.
,, ,, : Experience and Education.
,, ,, : The School and the Child.
Eby, F. : The Development of Modern Education.
Graves, F. P. : A Students' History of Education.
Joad, C. M. : An Introducton to Modern : Philosophy.
Jacks. : Total Education.

Kandle, I. L. : Studies in Comparative Education.

Livingstone. : Education for a World Adrift

Munroe, P. : Text Book in the History of Education.

Meyer, H. E. : The Development of Education in the Twentieth Century.

Mukurjee, R.K.: Ancient Indian Education.

Nunn, T. P. : Education : Its Data and First Principle.

Rusk, R. R. : The Philosophical Basis of Education.

„ „ : The Doctrines of the Great Educators.

Ross, J. S. : Groundwork of Educational Theory.

Russell, B. : Education and the Social order

Raymont, T. : The Principles of Education.

Rousseau, J J.: Emile.

Ravindra Nath Tagore ; Nationalism.

Spencer, H. : Education.

Saiyidain : Education : Culture and Social order.

„ „ : Problems of Educational Reconstruction.

Whitehead, A.N.:The Aims of Education

प्रश्न तथा उत्तर-संकेत

१—शिक्षा की परिभाषा एवं व्याख्या करते हुए शिक्षा, शिक्षण एवं निर्देशन में अन्तर स्पष्ट कीजिये। संकेत:—पृ० २ से ८ तक

२—शिक्षा के विभिन्न रूप एवं प्रकार के गुण-दोष का विवेचन कीजिये। संकेत:—पृ० ८ से ११ तक।

३—शिक्षा के व्यक्तिगत एवं सामाजिक उद्देश्य का सम्यक विवेचन करते हुए सामंजस्य स्थापित कीजिये।

संकेत:—पृ० ३४ से ३८ तक।

४—शिक्षाविदों के विभिन्न शिक्षा के उद्देश्यों के प्रकाश में भारत की वर्तमान अवस्था के अनुकूल शिक्षा का उद्देश्य निरूपित कीजिये। संकेत:—पृ० ३८ से ४० तक।

५—"वास्तव में शिक्षा की समस्त समस्यायें दर्शन की समस्यायें हैं।" इस कथन की विवेचना कीजिये।

अथवा

६—"दर्शन और शिक्षा में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, वे एक दूसरे के बिना अपूर्ण है।" इसकी पुष्टि कीजिये।

७—"शिक्षा दर्शन का गत्यात्मक रूप है।" इस कथन की सार्थकता प्रमाणित कीजिये।

संकेत:—पृ० ४१ से ५२ तक (प्रश्न ५, ६ तथा ७।)

८—आदर्शवादी विचारधारा में निहित शैक्षिक सिद्धांतों का स्पष्टीकरण कीजिये। संकेत:—पृष्ठ ५८ से ६१ तक।

९—'शिक्षा में प्रकृतिवाद' से क्या अभिप्राय है? इस विचारधारा के मुख्य लक्षणों का विवरण देते हुए इनसे उद्भूत आधुनिकतम प्रवृत्तियों का उल्लेख कीजिये।

संकेत:—पृष्ठ ७५ से ८५ तथा १०३ से १०६ तक।

१०—शिक्षा उद्देश्य, विनय, एवं शिक्षण पद्धति सम्बन्धी आदर्शवादी एवं प्रकृतिवादी दृष्टिकोण की तुलनात्मक समीक्षा कीजिये।

संकेत:—पृ० ६२, ६३, ६६; पृ० ७७, ७८, ८२, ८३, ८४।

११—"रूसो के शैक्षिक सिद्धांतों से ही आधुनिक शिक्षा सिद्धांत एवं प्रयोग उद्भूत होते हैं।" इस कथन की विवेचना कीजिये। अथवा

१२—रूसों के विचारों का शिक्षा पर पड़े स्थायी प्रभावों का उल्लेख कीजिये। संकेत:—पृ० १०३ से १०६ तक।

१३—"तीन साधनों—प्रकृति, मनुष्य एवं वस्तु—से हमें शिक्षा मिलती है।" इसकी युक्तियुक्त समीक्षा कीजिये।

संकेत:—पृ० १०० से १०१ तक।

१४—'कुछ शिक्षाविज्ञों ने रूसो को प्रकृतिवाद का पैगम्बर कहा है; किन्तु अन्य की धारणा है कि वह शिक्षा उद्देश्य की दृष्टि से आदर्शवादी था।' इस कथन की सार्थकता प्रमाणित कीजिये।

संकेत:—पृ० ६४, ६८, ६६।

१५—"मेरा कार्य बालक को शिक्षित करना नहीं वरन् शिक्षित होने के लिए तैयार करना है।"

अथवा

१६—"अपने बालक को मौखिक शिक्षा न दो, उसे अनुभव से वस्तु द्वारा न कि शब्दों द्वारा ज्ञान प्राप्त कराना चाहिये।" रूसो के उपरोक्त कथनों पर प्रकाश डालिये।

संकेत:—पृ० ६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६।

१७—"आधुनिक शिक्षा की प्रगति में पेस्तॉलॉजी के शिक्षा सिद्धात एवं प्रयोग का विशेष महत्व है।" इस कथन का मूल्यांकन कीजिये। संकेत:—पृ० ११५ से ११८ तक।

१८—हरबार्ट के शिक्षा उद्देश्य, 'नैतिकता' की संक्षिप्त व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट कीजिये कि उसने शिक्षा में शिक्षण विधि को

मनोवैज्ञानिक बनाया । संकेत:—पृ० १२१ से १२४ तक ।

१६—'फ्राबेल का किन्डरगार्टेन एवं शिक्षा विचार गूढ़ दार्शनिक सिद्धांतों पर निर्भर हैं ।' इस कथन की मीमांसा कीजिये ।

संकेत:—पृ० १२७ से १३२ तक ।

२०—"वर्तमान शिक्षा के मूल में मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का ही महत्त्वपूर्ण स्थान है । आज ये शिक्षण सम्बन्धी समस्त क्रियाओं के मेरुदंड बने हुए हैं।" इस कथन की विवेचना कीजिये ।

२१—शिक्षा में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के महत्व की समीक्षा कीजिये । संकेत:—पृ० १३६ से १४२ तक । (प्रश्न २०, २१)

२२—शिक्षा में वैज्ञानिक प्रवृत्ति से आपका क्या अभिप्राय है ? इसने आधुनिक शिक्षा को कहाँ तक प्रभावित किया है ? स्पष्ट कीजिये ।

संकेत:—पृ० १४३ से ४५ तक ।

२३—'पाठ्य क्रम तथा पाठ्यवस्तु के निरूपण में हरबर्ट स्पेन्सर का दृष्टिकोण पूर्णतः उपयोगितावादी था ।' इस कथन की विवेचना करते हुए उसके शिक्षा उद्देय की आलोचना कीजिये ।

संकेत:—पृ० १४६ से १४८ तथा १५० से १५२ तक।

२४—'शिक्षा में समाहारक प्रवृत्ति से क्या अभिप्राय है ।' सिद्ध कीजिये कि यह आधुनिक शिक्षा के प्रत्येक अंग में सर्वत्र व्याप्त है ।

संकेत:—पृ० १५६ से १६२ ।

२५"शिक्षा में लोकसंग्रही प्रवृत्ति विषय-चयन को ही सामाजिक जीवन व्यतीत करने योग्य नागरिक बनाने का माध्यम मानती है ।" इस कथन की युक्तियुक्त समीक्षा कीजिए । संकेत:—पृ० १५५, १५६, १५७ ।

२६—शिक्षा उद्देश्य एवं प्रयोग पर प्रयोजनवाद के प्रभाव का संक्षिप्त वर्णन कीजिये । संकेत:—पृ० १६७ से १७० तक ।

२७—आदर्शवादी तथा प्रयोजनवादी के विद्यालय एवं समाज सम्बन्धी कार्यों की तुलनात्मक विवेचना कीजिये ।

संकेत:—पृ० ६४, ६५ तथा १८१, १८२।

२८—प्रकृतिवादी और प्रयोजनवादियों के रुचि एवं विनय सम्बन्धी क्या दृष्टिकोण हैं ? स्पष्ट कीजिये। संकेत:—पृ० ८३, ८४; १८६, ८७।

२९—बालक को दृष्टिकोण में रखते हुए डीवी के विद्यालय सम्बन्धी क्या विचार हैं ? संकेत:—पृ० १७४, १७५, १८२।

३०—डीवी और हरबार्ट के रुचि एवं विनय सम्बन्धी विचारों की तुलनात्मक समीक्षा करते हुए उनकी शिक्षण-पद्धति की तुलना एवं आलोचना कीजिये।

संकेत:—पृ० १२३ से १२५; १८६, १८७ और १८३, १८४।

३१—शिक्षा में राज्य नियंत्रण के पक्षपाती अपने विचारों के समर्थन में क्या तर्क देते हैं ? संकेत:—पृ० १९३, ९४।

३२—राज्य नियंत्रित शिक्षा अथवा शिक्षा में राज्य के अधिक हस्तक्षेप के विरुद्ध क्या तर्क हैं ? संकेत:—पृ० १९५।

३३—"बालक को जातिगत अथवा राष्ट्रीयता के भेदभाव से रहित अपनी सर्वोत्तम देन देना मानवता का पुण्य धर्म है।" इस आदर्श के प्राप्ति हेतु प्रत्येक सभ्य राज्य का क्या कर्तव्य है ?

संकेत:—पृ० १९६ से १९९ तक।

३४—घोर राष्ट्रीयता के दुष्परिणामों से बचाने के लिए शिक्षा का किस प्रकार प्रयोग हो ? संकेत:—पृ० २०४,२०५।

३५—शिक्षा द्वारा अन्तर्राष्ट्रीयता के सद्भाव की वृद्धि हेतु अबतक के प्रयासों का उल्लेख कीजिये ? संकेत—पृ० २०८ से २११ तक।

३६—अंतर्राष्ट्रीय सद्भावनाओं को सबल बनाने के हेतु शिक्षा में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को अत्यधिक पुट देने के सुझाव दीजिये।

संकेत:—पृ० २१३, २१४।